मेरे प्रिय संभाषण

मेरे प्रिय संभाषण

- महादेवी वर्मा —



नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

ISBN 81—214—0027—9

मूल्य : ४० ००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली ११०००२ द्वारा प्रकाशित / द्वितीय संस्करण १९८९ / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, ए-९५, सेक्टर ५, नोएडा-२०१३०१ में मुद्रित।

[379.2-12-886/N]

MERE PRIYA SAMBHASHAN by Mahadevi Verma Rs 40 00

अपनी बात

भाषण चाहे साहित्य सम्बन्धी ही हो, किन्तु रहेगी वह साहित्य लेखन से भिन्न विधा ही। साहित्यकार लेखन के समय अकेला ही होता है। उसके समक्ष न पाठ्य समुदाय होता है न आलोचक। श्रेष्ठ साहित्यकार अपने आप मे जिस गहराई तक डूब कर लिखता है उसमे पुरस्कार या दण्ड, किसी की स्वीकृति-अस्वीकृति, किसी का प्रवेश सम्भव नही होता और कभी-कभी तो उसके जीवनकाल मे उसकी रचना का मूल्याकन भी नही हो पाता। दूसरे शब्दो मे लेखन प्रायः 'स्वान्तः सुखाय' ही होता है, क्योकि अभिव्यक्ति की अनिवार्यता ही उसकी मूल प्रेरणा हो जाती है।

इसके विपरीत भाषणकर्त्ता का श्रोतावर्ग उसके समक्ष ही रहता है और इस समूह मे भिन्न अवस्था तथा रुचि वाले व्यक्ति होते हैं। इन सब तक अपनी बात पहुचाना भाषणकर्त्ता का लक्ष्य होना स्वाभाविक है।

साहित्य के समान भाषणो का वर्गीकरण हो सकता है, जैसे साहित्य, विज्ञान, सस्कृति, समाज, राजनीति आदि, किन्तु सब श्रोताओ तक अपने कथ्य का मर्म पहुचाने के लिए भाषा, शैली भगिमाए सब भाषणकर्त्ता को सहायता देती हैं। श्रोताओ मे विषय के ज्ञाता और रुचि रखने वालो के अतिरिक्त अन्य जिज्ञासाओ से प्रेरित व्यक्ति भी हो सकते हैं। तात्कालिक मूल्याकन भी भाषण की विशेषता होने के कारण भाषणकर्त्ता सोचने के लिए अवकाश नही पाता। यदि सबको साथ न ले चल सके तो बोलने वाला अकेला रह जायगा।

आधुनिक युग में व्यक्ति पढने का अवकाश अनेक प्रकार की व्यस्तताओं के कारण नही पाता, अत· यह वाचिक कला अधिकाधिक प्रसार पा रही है। वैसे परम्परा की दृष्टि से हमारी गुरु परम्परा लिपि से पहले वाचिक ही रही है, पर आज उसे नवीन परिवेश मिल गया है।

अपने सभाषणों के विषय मे कुछ कहना कठिन है। इन्हें सुनने वाले भी होंगे और अब पाठक भी। उन्हें कुछ मेरे विचार मिल सकें इतनी ही इनकी सार्थकता है।

प्रयाग
७-६-८३

—महादेवी

क्रम

शिक्षा का उद्देश्य[1]

स्नातक अनुजो को उपदेश या आदेश देने की स्थिति मे मैं अपने-आपको नही पाती, क्योकि मैं स्वय एक जिज्ञासु विद्यार्थिनी हू। जीवन की पुस्तक का अभी एक पृष्ठ भी मैं समाप्त नही कर पाई। वैसे मेरे विचार मे, मनुष्य चिन्तन और अनुभूति की चिर नवीन उद्भावनाओ की दृष्टि मे आजीवन विद्यार्थी ही रहता है। इस स्थिति मे परिवर्तन के लिए उसे बुद्धि और हृदय के द्वार ही बद कर लेने पडते हैं।

भारत अपने भौगोलिक परिवेश मे जितना विविधरूपात्मक है, सास्कृतिक दृष्टि से उतना ही सश्लिष्ट है। और उसके सास्कृतिक मूल्य जीवन के लिए मगल-विधायक तथा आलोकवाही रहे हैं।

जिन युगो तक इतिहास की किरणें नही पहुच पाती, उन युगो मे भी भारत ने आचार्यकुलों को अपनी मूल्यात्मक उपलब्धियो का सरक्षक तथा अंतवासियो को उनका उत्तराधिकारी स्वीकार कर दोनो को समान महत्त्व दिया था।

जन्म से लेकर शिक्षा की समाप्ति तक व्यक्ति के निर्माण के लिए, जो जटिल, परतु गभीर संवेदनमयी व्यवस्था की शृखला मिलती है, उसकी प्रत्येक कडी दीर्घ चिंतन और परीक्षण का परिणाम है।

तत्कालीन दीक्षात अनुष्ठान ऐसी सधिवेला थी, जिसमे शिष्य की परीक्षा समाप्त और गुरु की परीक्षा का आरभ होता था। स्नातक मे कुलगुरु का ज्ञान ही नही, उसकी महिमा भी सक्रमित होती थी। इसी से स्नातक अपने आचार्य-कुल से ही पहचाना जाता था। उनमें अनेक कुलगुरु अपनी अत्यत क्रातिकारिणी जीवन-दृष्टि के लिए प्रख्यात थे और उनकी शिष्य-परपरा, समाज को गतिरुद्ध करने वाली रूढियो को खड-खड करने का सकल्प लेकर कर्मक्षेत्र मे प्रवेश करती थी।

[1] विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में दीक्षांत भाषण।

सा विद्या या विमुक्तये ।

—अर्थात वही विद्या है जो मुक्ति के लिए है।

विद्या की उपर्युक्त परिभाषा से अधिक प्रगतिशील परिभाषा खोज लेना कठिन होगा।

शिक्षा-संस्थानो मे राष्ट्र बनता है, अत आश्चर्य का विषय नही है कि भारतीय मनीषा ने, प्रत्येक अतीत युग मे, शिक्षा के क्षेत्र को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा तथा तत्कालीन शासन-व्यवस्था के नियत्रण से उसे मुक्त रखा।

सहस्रो वर्ष पूर्व की शैक्षणिक उपलब्धियो का आज क्या उपयोग है यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है । यह निर्विवाद सत्य है कि हम अतीत युगो के जीवन और परिस्थितियो की आवृत्ति नही कर सकते । जब एक बीते क्षण, एक तीव्र सवेदन तक को लौटा लेना सभव नही है, तब सुदूर अतीत मे जीने का प्रश्न कल्पनातीत है ।

परतु मानव के अतीत, वर्तमान और भावी सवेदनो को सभालने वाला समय तो अखड ही रहता है ।

विकास-क्रम मे एक युग का मानव समूह अपने पूर्वजों से जो उत्तराधिकार पाता है, वह शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सास्कृतिक आदि दृष्टियो से विविध और उपयोग के परिप्रेक्ष्य मे चिर नूतन ही रहता है। जब अतीत युगो के दर्शन, कला, साहित्य आदि भिन्न वर्तमानयुगीन परिस्थितियो म जीवन को समृद्ध कर सकते हैं, तब उन्ह जन्म देने वाली दृष्टि और सामाजिक सस्थाओ का ज्ञान भी उपयोगी हो सकता है ।

विकास-क्रम म यह सत्य और भी स्पष्ट हो जाता है। व्यापक अर्थ मे विश्व का समस्त मानव-समूह एक परिवार है, परतु विभिन्न प्राकृतिक परिवेशो मे विकास के कारण वह वर्ण, आकृति, सस्कार, जीवन-पद्धति आदि की दृष्टि से अनेक जातियो मे विभाजित हो गया है ।

अपने विशेष भौगोलिक परिवेश से रागात्मक लगाव, सस्कार-क्रम मे उत्पन्न जीवन-पद्धतियो की समानता आदि ही किसी मानव-समूह को राष्ट्र की सज्ञा से अभिषिक्त करते हैं। नदी-पर्वत-समतल मात्र राष्ट्र नही बन जाते और न मानवो की विषम भीड ही राष्ट्र कहलाने की अधिकारिणी हो जाती है ।

वस्तुत राष्ट्र शब्द से प्रबुद्ध चेतन, किंतु स्वेच्छया एकताबद्ध मानव-समूह और उसका परिवेश दोनो का बोध होता है ।

'माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्या' (अथर्व०) से लेकर 'मुकुट शुभ्र हिम-तुषार' तक जो भाव-समुद्र लहरा रहा है उसका तट बनाने की क्षमता किसी युग को प्राप्त नही हो सकी है।

अनेक बौद्धिक उपलब्धियो के सबध मे भी यही सत्य है। वास्तव मे किसी

भी युग मे कोई जीव अपने-आपको धोई-पोछी स्लेट के समान नही प्रस्तुत करता। उसमे अनिवार्यतः अनेक विगत युगो के भौतिक, मानसिक, सामाजिक आदि सस्कारो के चिह्न रहना स्वाभाविक है। जिन सस्कारो की रेखाओ मे मानव प्रगति का इतिहास निबद्ध है, उन्हे नवीन युग की परिस्थितियो से जोड कर हम अपने युगातर-दीर्घ विकास की स्वर्णिम शृखला मे नवीन कडी जोडते हैं, उसे तोडते नही हैं।

माला मे चाहे मोती गुफित हो चाहे फूल, उन्हें सभालने का कार्य सूत्र ही करता है, जिसके टूटने पर बहुमूल्य और सुदर सब कुछ धूल मे बिखर जाता है।

अपनी धरती की गहराई म जडें रखने वाले पौधे किसी भी दिशा से आने वाले पवन के उष्ण या शीतल झोको से भेट लेते हैं। वर्षा की झडी और कठिन धूप को भेंट लेते हैं। यदि वे अपनी धरती का आधार छोड दें, तो न मलय-समीर उन्हें जीवित रख सकेगा और न वर्षा का अमृत जल। धनुष पर बाण को सधान कर जब तक उसे पीछे कान तक नही खीचा जाता, तब तक उससे लक्ष्यवेध सभव नही होता। पीछे का पग धरती पर जमाये बिना न आगे का उठाया जा सकता है और न एक डग आगे बढ़ा जा सकता है।

गत युगो की उपलब्धियो के प्रति उपेक्षा भाव को, अपनी भावी प्रगति की शपथ मानकर हमने अपने-आपको दिग्भ्रात ही किया है, क्योकि बिना वर्तमान मे अतीत गतिहीन है और अतीत से विच्छिन्न वर्तमान दिशा निर्देशहीन हो जाता है।

मानव के सूक्ष्म मनोजगत् से लेकर उसके प्रत्यक्ष कर्म तक जो परिष्कार-क्रम आदिम युग से चलता आ रहा है, वही मानव-सस्कृति है और यह सस्कृति निर्मित वस्तु न होकर निर्माण-परपरा ही रहती है।

ऐसी स्थिति मे एक युग की उपलब्धिया दूसरे युग मे सक्रमित होकर ही सार्थकता पाती हैं। इस सक्रमण-क्रम के टूटने पर अनेक सस्कृतिया तिरोहित हो चुकी हैं, यह तथ्य इतिहास से प्रमाणित हो सकता है।

सस्कृति का स्वभाव मूल्यात्मक या धनात्मक ही होने के कारण उसे निषेधात्मक या ऋणात्मक रूप मे अनुभव नही किया जा सकता। हम किसी भी सास्कृतिक मूल्य को उसके अभाव मे नही अनुभव करते। उदाहरण के लिए, हम सामाजिक मूल्य के रूप मे सत्य का अनुभव कर सकते हैं, परतु उसका अभाव, असत्य हमारे अनुभूतिक्षेत्र से बाहर बुद्धि का विषय है।

सस्कृति के विकास-क्रम मे प्राप्त मूल्य, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक आदि विविध क्षेत्रो मे विभाजित होकर भी व्यक्ति और समष्टि की दृष्टि से एक सश्लिष्ट और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

इन जीवन-मूल्यो के साथ अनेक मान्यताओ तथा प्रयोगजनित रूढ़ियो का

समन्वित हो जाना अनिवार्य है। अतः प्रत्येक युग में नवीन परिस्थितियों की कसौटी पर खरे उतरने पर ही वे अपने मूलरूप में प्रतिष्ठित हो पाते हैं।

भारत विशाल और पुरातन महादेश है और उसकी सहस्रयुगी संस्कृति गंगोत्री के गोमुख से समुद्र तक प्रवाहित गंगा के समान और धाराओं को समेटती रही है। उसे अवतार के ऐसे अनेक प्रहार पार करने पड़े हैं, जिनसे किसी जीवन-मूल्य तथा मान्यता की परीक्षा से अधिक आवश्यक उसका संरक्षण था। परिणामतः कहीं मूल्याधार खो गया, कहीं मूल्यहीन संरक्षित हो गया।

राष्ट्र-जीवन के जिन क्षेत्रों को कुछ मूल्याधार खोना पड़ा है, उनमें शिक्षा का क्षेत्र विशेष स्थिति रखता है। शिक्षा किसी भी राष्ट्र का मेरुदंड कही जा सकती है। वह अतीत युगों की उपलब्धियों तथा वर्तमान परिस्थितियों का संधि स्थल ही नहीं, ऐसा वातायन भी है जिससे भविष्य की रूपरेखा दिखती और स्पष्ट से स्पष्टतर होती जाती है।

जिस प्रकार शरीर में हृदय सब अंगों को स्वस्थ रक्त पहुँचाने का कार्य करता है, उसी प्रकार शिक्षाक्षेत्र समाज, शासन, विज्ञान, कला, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में नवीन प्रतिभाएँ भेजता है। यदि शिक्षाक्षेत्र द्वारा पहुँचाया गया नवीन रक्त स्वस्थ है, तो सभी क्षेत्र स्वस्थ और क्रियाशील रहते हैं। यदि नवीन रक्त में व्याधियों के कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं, तो राष्ट्र-जीवन के सभी क्षेत्र सांघातिक रूप से पीड़ित हो उठते हैं।

प्रबुद्ध राष्ट्र की जीवन-पद्धति में शिक्षाक्षेत्र का उत्तरदायित्व विद्वानों, शिक्षकों और आचार्यकुलों पर रहता है।

शिक्षाक्षेत्र के अंतर्गठन में दो परस्पर पूरक पक्ष अनिवार्य हैं—शास्त्र, विषय या विद्या और उसका सम्प्रेषण या शिक्षा और उसके बहिर्गठन में गुरु, शिष्य, पाठ्यक्रम और परिवेश अन्योन्याश्रित महत्त्वपूर्ण स्थिति रखते हैं।

शिक्षा-कमल के इन षट्दलों को संग्रथित रखनेवाला कुड्मल भाषा है, जिसके अभाव में सब दल बिखर जाते हैं।

भारत के तत्त्वदर्शी चिंतकों ने जीवन के किसी भी क्षेत्र या सत्य को इतनी सावधानी से गठित नहीं किया है, जितनी शिक्षाक्षेत्र के गठन में मिलती है। कारण स्पष्ट है। इस क्षेत्र में मानव का दुहरा निर्माण होता है। अन्य क्षेत्रों में जब वह पहुँचता है, तब बुद्धि और हृदय से प्रबुद्ध और संवेदनशील सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित होने योग्य बन चुका है, परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में वह समस्त अनगढ़ पशुवृत्तियों को संयमित तथा मानवीय संभावनाओं को साकार बनाने का कठिन कार्य होता है, उस क्षेत्र की उपेक्षा मानव-समाज को बर्बरता की ओर लौटा देती है।

जीवन के गहन मूल्यकोष को भारतीय मनीषा ने विद्या नाम से अभिहित

किया था। वेद के समान ही विद् (जानना) धातु से बनी यह सज्ञा, समय के बहुत से आधी-तूफान पार कर आई है और मानव द्वारा अनेक सदुपयोग-दुरुपयोग के अमिट चिह्नों से चित्रमयी है। परतु तत्त्वत यह जीवन की ऐसी मूल्यात्मक उपलब्धियों का प्रतीक रही है, जो मानव-ससृति की युगातर दीर्घ यात्रा मे भी धूमिल न होकर अपनी दीप्ति से पथ को आलोकित करती रही हैं।

विद्या का लक्ष्य व्यष्टि और समष्टि दोनो को सामजस्य-सूत्र मे बाध कर सपूर्णता देना है तथा शिक्षा हृदय और बुद्धि के परिष्कार और समन्वय द्वारा मानव को लक्ष्य तक पहुचने की क्षमता प्रदान करती है।

ज्ञान से अधिक कठिन उसकी सप्रेषणीयता है, अत शिक्षा का क्षेत्र ज्ञान की दोहरी और रहस्यमयी प्रयोगशाला बन जाता है। उसे व्यक्ति के अतर्जगत को सपूर्ण तथा मुक्त विकास भी देना पडता है और उसे समष्टि से सामजस्य-पूर्ण बधन मे बाधना भी पडता है। उसे मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियो को परिष्कार और दिशा भी देनी पडती है और उसके बहिर्जगत् की समस्याए भी सुलझानी पडती हैं।

इसी कारण चितको ने विद्या को परा और अपरा या परमार्थकरी और अर्थकरी म विभाजित कर, उसे लक्ष्यत स्पष्ट से स्पष्टतर करना उचित समझा।

परा विद्या मानव के आत्मबोध तथा सहजात प्रवृत्तियो के ऊर्ध्वगमन का माध्यम है और अपरा उसकी लौकिक स्थिति मे विकास का साधन।

परमार्थकरी विद्या से मानव की मानसिक वृत्तियो के उदात्तीकरण का बोध होता है और अर्थकरी उसे लौकिक दृष्टि से जीवन-यापन के लिए उपयुक्त और सतुलित विकास देती है।

मानव प्रकृति तत्त्वत नैतिक है। हम पशु-विशेष को बल से विवश करके अपना इच्छित आचरण सिखा सकते हैं, परतु उस क्रिया की असख्य आवृत्तिया करके भी पशु न उसमे सुख का अनुभव करने मे समर्थ है और न स्वतत्र होने पर वैसा आचरण करेगा। सर्कस मे अनेक प्रकृत्या हिंस्र-अहिंस्र जीव साथ रह कर सिखाये हुए आचरण के अनुसार कार्य करते हैं, परतु इससे उनकी वृत्तियो मे कोई अतर नही आता।

मानव की विकास गाथा इससे भिन्न है। उसमे तत्त्वगत नैतिक प्रकृति के जागरण के साथ एक असीम आनद उद्वेलित हो उठता है, जिसे हम आस्था, सौंदर्यबोध और समष्टि मे अपने-आपको विसर्जित करने की इच्छा कह सकते हैं। समष्टि के साथ अनुभव करने, विचार-विनिमय करने और उससे एकात्म होने की इच्छा ही, मानव जाति के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि की जननी रही है।

एकोऽहम् बहुस्याम—मैं एक हू, अनेक हो जाऊगा। ब्रह्म के लिए कहा गया

यह वाक्य मनुष्य के लिए भी सत्य है। यह इच्छा मनुष्य के सीमित व्यक्तित्व की समष्टिगत असीमता है।

शिक्षा अपने सीमित अर्थ में जीवन के लिए तैयारी मानी जा सकती है, परंतु व्यापक अर्थ में वह जीवन का चरम उद्देश्य ही रहेगी। इन सीमित और व्यापक अर्थों में कोई अंतर्विरोध संभव नहीं है, क्योंकि सीमित व्यापक अर्थ में अंतर्भूत रहता है। मनुष्य व्यापक समष्टि का अंग और विश्व-नागरिक होकर भी किसी देश-विशेष का नागरिक और समाज-विशेष का अंग होता है और इस नाते विशेष कर्तव्यों तथा अधिकारों से घिरा रहता है। विसंगति तब उत्पन्न होती है, जब शिक्षा निरुद्देश्य तैयारी मात्र रह जाती है, क्योंकि वह परिणाम-हीन क्रियाशीलता है।

जिस प्रकार नींव के कंपन के साथ समस्त भवन हिल जाता है, उसी प्रकार उद्देश्य या लक्ष्य की अस्थिरता से शिक्षा के सभी सोपान अस्थिर हो जाते हैं।

शिक्षा के उच्च स्तर पर लक्ष्यहीनता का परिणाम अधिक सांघातिक हो, यह स्वाभाविक है।

शैशव में व्यक्तित्व अविकसित रहता है, अतः लक्ष्य के प्रश्न अनदेखे कर दिये जाते हैं, किशोरावस्था में व्यक्तित्व निर्माण के क्रम में रहता है, अतः उसकी परिणति के संबंध में विचार नहीं किया जाता, परंतु कर्मक्षेत्र के प्रवेश-द्वार पर जब शरीर से अस्वस्थ और मन से हताश तरुण पहुंचता है, तब जीवन और समाज दोनों की स्थिति संकटापन्न हो जाती है।

हमारे महादेश को पराजय की तमिस्रा के दीर्घ युग पार करने पड़े हैं और इस अभिशप्त यात्रा में उसने जीवन के लिए आवश्यक पाथेय का जो मूल्यवान अंश खोया है वह शिक्षा का दर्शन है। यह निर्विवाद है कि कोई भी विजेता विजित देश पर शासन-मात्र का अधिकार प्राप्त कर संतुष्ट नहीं होता। वह विजित पर सांस्कृतिक विजय भी चाहता है, जिसका सहज पर अव्यर्थ माध्यम शिक्षा ही रहती है। परशासित देश में शिक्षा का उद्देश्य वही नहीं हो सकता, जो स्वशासित देश के लिए आवश्यक है।

स्वशासित देश को अपनी सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि मूल्यात्मक निधियों के लिए उपयुक्त उत्तराधिकारियों का निर्माण करना होता है और परतंत्र देश के परशासकों को अपनी स्थिति यथावत बनाए रखने के लिए आवश्यक सहायक। दोनों स्थितियों में शिक्षा लक्ष्यतः, कार्यतः और परिणामतः भिन्न हो तो आश्चर्य नहीं।

भावी नागरिक के व्यक्तित्व का ऐसा विकास, जिसमें उसका स्वाभिमान, राष्ट्र-भावना, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की इच्छा आदि विशेषताएं विकसित हो सकें, स्वतंत्र देश के लिए उपयोगी हो सकता है। किंतु विजेता शासक वर्ग के

लिए शासितों की नई पीढ़ी का ऐसा विकास अस्त्र-शस्त्रों से अधिक शंकाजनक है, क्योंकि वह विकास विजेता की निर्णीत जय को अनिर्णीत करने और उसे पराजय मे बदलने की शक्ति रखता है।

भारत मे स्वतत्रता-प्राप्ति के उपरात भी शिक्षा के क्षेत्र मे लक्ष्यत और कार्यत परिवर्तन नही किया जा सका, परिणामत आज निर्माण की वेला मे वही क्षेत्र अधिक अशात, अस्थिर और विघटनशील है।

आधुनिक युग में छात्र वर्ग का असतोष विश्व-व्यापक हो गया है, परतु उसके देशज कारणो और परिस्थितियो मे अतर है। जिन देशो मे शरीर मुक्त है, पर मन बधन मे है वहा भी, और जहा मन मुक्त है, पर शरीर पर कठिन नियत्रण है वहा भी शिक्षा का क्षेत्र ही हलचलो का केंद्र है। कही सामाजिक बधन टूटते हैं, कही मानसिक नियत्रण शिथिल होता है, किंतु टूटने के क्रम मे निरतरता है।

स्पष्ट ही मानव के अतर्जगत् मे कुछ नवीन जन्म ले रहा है, जिसकी पीडा नई पीढी को अधिक अशात कर रही है। सामान्यत यह पीडा देश-विशेष की परिस्थितियो से उसी प्रकार रग-रूप पाती है, जैसे काच के रगीन पात्र मे भरा जल अपने आधार से ही आकृति और रगमयता ग्रहण करता है।

कभी-कभी इस नियम मे अपवाद भी देखा जा सकता है। अमेरिका जैसे भौतिक दृष्टि से सर्वसुविधा-सपन्न और वैज्ञानिक दृष्टि से अग्रगामी देश के पचास लाख से अधिक उच्चस्तरीय छात्रो की अशाति, केवल भौतिक सुविधाओ के अभाव से उत्पन्न नही कही जा सकती।

तत्वत आज का युग प्राचीन और नवीन जीवन-मूल्यो और मान्यताओ की सक्राति का, टकराहट का है।

विज्ञान ने एक नवीन प्रकृति धर्म की प्रतिष्ठा की है, जिसके कारण विश्व एक हो गया है। राजनीतिक विचारधाराओ ने एक नये नीतिशास्त्र का निर्माण किया है, जिसके कारण विश्व लघु खडो मे विभाजित होता जा रहा है। दोनो में सगति या समन्वय की स्थिति अभी उत्पन्न नही हो सकी है। उसे जीवन का उच्चतर लक्ष्यबोध ही सभव कर सकता है, जिसकी अभी खोज ही आरभ नही हुई।

जहा तक भारत के छात्रवर्ग का प्रश्न है, वह सामाजिक ही नही, मनोवैज्ञानिक सशाति के मध्य मे है। उसके व्यक्तित्व की बाह्य और अत स्थिति इतनी विघटित है कि उसमे निर्माण की प्रेरणा जगाना दुष्कर नही तो कठिन अवश्य है।

आज के छात्र या स्नातक ने स्वतत्रता के आलोक मे आखें खोली थी और जीवन की धडकन के साथ ही भारत का जयगान सुना था। उसकी आशाए, कल्पनाए पूर्व पीढ़ी से भिन्न हो, तो इसे स्वाभाविक ही माना जायेगा। पिछली

पीढ़ी ने दासता का अभिशाप झेला था; उसकी आशाओ और कल्पना मे सफलता का अतिम बिंदु और एकमात्र केंद्र विदेशियो के शासन से मुक्त होना मात्र था। स्वतत्र होने के उपरात पूर्व केंद्रो से मुक्त दृष्टि कुछ प्रसन्नता और कुछ कुतूहल से नवीन केंद्र की खोज मे ही भटकती और थकती रही। लौह-बेड़िया कट जाने पर भी पैर पर उसके चिह्न नही कट जाते और वे दाग ही प्राय: मुक्त बदी की बधनजनित वेदना की कथा कहते रहते हैं। पिछली पीढी के साथ भी यही घटित हुआ।

उसने न मानसिक दासता से मुक्ति पाई, न मुक्ति पाने को आवश्यक समझा। इसके विपरीत वह मुक्ति के प्रमाण मे अतीत बधन के चिह्नो के प्रदर्शन करती रही। नवीन पीढ़ी ने इस स्थिति को पहले कुतूहल से देखा, फिर जिज्ञासा से और अत मे विरोध व्यक्त किया।

छात्र वर्ग के असतोष के अनुमानित कारण कई हैं। यह भी कहा जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र मे अशाति का कारण वे पिछड़े वर्ग के विद्यार्थी हैं, जिनके परिवारो मे शिक्षा-सबधी कोई सस्कार नही था और जो अब तक शिक्षा से वचित थे। छात्र-आदोलन का कारण, शिक्षा के उपरात जीविकोपार्जन का कोई साधन प्राप्त न होना है, यह विश्वास भी सकारण है।

राजनीतिक दलो की प्रेरणा छात्रो के असतोष के मूल मे है, यह भी प्रचलित मान्यता है। जीवन की मान्यताओ और मूल्यो मे परिवर्तन ही छात्र-वर्ग को अशात कर रहा है, यह भी चितको का निष्कर्ष है।

इन सभी अनुमानो मे आशिक सत्य है, सपूर्ण नही, क्योंकि ऐसे सामूहिक असतोष अनेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, अत बाह्य परिस्थितियो की विषमता के परिणाम होते हैं। ये विषमताए तत्काल विस्फोटक रूप नही पा लेती। जैसे भूकप के पहले पृथ्वी के गहरे अतराल मे ज्वाला-जल की विषम स्थितिया उत्पन्न होकर बल प्राप्त करती रहती हैं, वैसी ही मानव-समष्टि के असतोष की कथा है। उसका कारण न एक स्थिति है, न एक विषय। लोकतत्र की सफलता का आधार शिक्षा है, जिसके अभाव मे जनसमूह को प्रबुद्ध करना सभव नही होगा। इस दृष्टि से भारत मे, जिसमे शिक्षा की परपरा प्राचीन और उज्ज्वल रही है, शिक्षा के प्रसार की दिशा मे अधिक प्रयत्न नही किया गया है।

स्वतत्रता के बीस वर्षों मे शिक्षा की जो प्रगति हुई है, उसमे किसी प्रदेश मे विद्यार्थियो की सख्या मे ६ प्रतिशत, किसी मे ८ और किसी मे ९ प्रतिशत वृद्धि हुई है। समय का विस्तार देखते हुए और अन्य स्वतत्र देशो की शिक्षण-व्यवस्था की तुलना मे यह वृद्धि आशाजनक नही कही जा सकती। अब भी ७७ से ८८ प्रतिशत के लगभग शिक्षा पाने योग्य किशोर वर्ग उससे वचित है। पिछड़े वर्ग से आने वाले और शिक्षा-सस्कार से रहित विद्यार्थी ही शिक्षा-

व्यवस्था मे अराजकता के कारण हैं, यह धारणा भी सत्य से दूर है। वास्तव मे पिछडे वर्ग के विद्यार्थी को दोहरा परिश्रम करना पडता है। उच्च वर्ग का विद्यार्थी कम शिक्षित और कम मेधावी होने पर भी सस्कृत और सभ्रात माना जाता है। पिछडे वर्ग के विद्यार्थी को अपने-आपको सस्कृत कहलाने के योग्य भी बनाना पडता है और अच्छा विद्यार्थी भी प्रमाणित करना पडता है। उसे छात्र-वृत्ति-सबधी कुछ सुविधाए भी प्राप्त हैं और उत्तीर्ण होने पर आजीविका के लिए बहुत भटकना भी नही पडता। उसने अपने जीवन का स्तर भी इतना उन्नत नही बना लिया कि वह दुर्वह हो जावे।

बालिकाओ के शिक्षाक्षेत्र मे प्रवेश को भी ऐसी ही शका की दृष्टि से देखा गया था, क्योकि उनकी युगातर-दीर्घ दोहरी दासता मे शिक्षा के सस्कार भी मिट गए थे। परतु उन्होने अपने सुविधा-सपन्न सहपाठियो मे अधिक कठिन श्रम करके समता ही नही, श्रेष्ठता भी प्राप्त कर ली। वस्तुत. वर्तमान युग पीडितो और गिरे हुओ का है और यह वर्ग जब उठता है तब उसका वेग शिलाए तोडकर निकलने वाले निर्झर के समान अप्रतिहतगति होता है।

शिक्षा के उपरात भी आजीविका के प्रश्न का समाधान न पाना और इस स्थिति के लिए समाज द्वारा उसी को दोषी ठहराया जाना, विद्यार्थी की उद्‌भ्राति का विशेष कारण है। पहले प्राविधिक शिक्षा के उपरात उत्तीर्ण विद्यार्थी को बेकारी का अभिशाप नही झेलना पडता था, परतु अब वे भी सैकडो की सख्या मे निष्फल भटकाव की स्थिति मे हैं।

भविष्य के सबध मे आश्वस्त किए बिना विद्यार्थी वर्ग मे असतोष का उपचार न सभव है, न सुकर।

जहा तक राजनीतिक विचारधाराओ का प्रश्न है, उससे न आज के विद्यार्थी को अपरिचित रखा जा सकता है, न दूर, क्योकि वे भावी शासन-व्यवस्था-सबधी स्वप्नो की प्रयोगात्मक कसौटी हैं। परतु यदि विद्यार्थी की प्रतिभा और उसके कृतित्व को उसकी रुचि के अनुसार दिशा और लक्ष्य प्राप्त हो सके तो वह राजनीति मे सक्रिय भाग लेने को आवश्यक न समझेगा। यह प्रश्न विद्यार्थी-जीवन मे नही, कर्मक्षेत्र मे प्रवेश के अवसर पर उठेगा और तभी उसका समाधान समाज के लिए हितकर होगा। उससे पहले विद्यार्थी को रुचि की दिशा और उस लक्ष्य तक पहुचने के लिए आवश्यक साधन ही महत्त्वपूर्ण रहते हैं। यदि किसी की रुचि या प्रवृत्ति की दिशा विज्ञान या साहित्य या कला है और उसे अपनी सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए इच्छित अवकाश प्राप्त हो जाता है, तो वह सक्रिय राजनीति के क्षेत्र मे असमय प्रवेश को समय का दुरुपयोग ही मानेगा।

राजनीति के सघर्ष-क्षेत्र मे जो व्यक्ति विद्यार्थी वर्ग का अस्त्र-शस्त्र के रूप मे उपयोग करते रहते हैं, उन्हें भी समष्टि के हित मे अपनी कार्यप्रणाली मे

परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हो सके, तो इस समस्या का समाधान खोजना सहज हो जाएगा।

इन सब समस्याओं से कठिन समस्या शिक्षा के अंत स्वरूप तथा माध्यम से संबंध रखती है। मातृभाषा ही शिक्षा का उचित माध्यम हो सकती है, इस निष्कर्ष पर विश्व के सभी शिक्षाशास्त्री एकमत हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा का प्रश्न संस्कृति से तथा राष्ट्र-भावना से संबद्ध रहता है, विशेषतः भारत जैसे महान देश के लिए, जो सांस्कृतिक दृष्टि से महान होने पर भी राष्ट्र की दृष्टि से पराधीन रह चुका है।

मात्र उपयोगिता की दृष्टि से भी, भारत के भावी नागरिक के निर्माण में विदेशी भाषा बाधक ही सिद्ध होती है। हमारे विद्यार्थी वर्ग में ८० प्रतिशत अंग्रेजी में अनुत्तीर्ण होते हैं और अधिकांश उक्त माध्यम से न किसी विषय को तत्वतः समझ पाते हैं और न व्यक्त करने में समर्थ होते हैं।

भाषा का संबंध मानवीय संवेगों से, मन से, बहुत गहरा होने के कारण विद्यार्थी के व्यक्तित्व का जैसा संश्लिष्ट विकास अपेक्षित रहता है, वह असंभव हो जाता है। अपने-आपको व्यक्त न कर सकने की कुंठा से अधिक दयनीय कुंठा मननशील प्राणी के लिए अन्य नहीं हो सकती और जब इस मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति कर्म में होती है, तब वह ध्वंसात्मक प्रवृत्ति को ही प्रत्यक्ष कर सकती है।

भाषा मानव के व्यष्टिगत व्यक्तित्व का भी अंग है और समष्टिगत व्यक्तित्व का भी। अतः उसे जीर्ण शीर्ण परिधान के समान उतार फेंकने का प्रयत्न असफल तो रहता ही है, वह व्यष्टि-समष्टि के संबंध भी विषम कर देता है। सारे देश के लिए कभी किसी विदेशी भाषा को सीखना संभव नहीं होता, परंतु वह अपनी भाषा को जीवन के साथ ही ग्रहण कर लेता है।

मानव की आदिम अवस्था का उल्लास, पीड़ा, विस्मय आदि ध्वनियों से जन्म पाकर भाषा उसके उदात्त और गूढ़ भावना-विचार तक जैसा विस्तार पा गई है, वह एक युग का कार्य नहीं है। अवश्य ही भाषा में परिवर्तन हुए हैं, परंतु वे नदी के मोड़ों के समान हैं नदी का अंत नहीं। तटों और तरंगों की नवीनता नदी की अबाध गति के लिए है, उसे खंड-खंड करने के लिए नहीं।

'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्' (मैं राष्ट्र की शक्ति हूं, उसे समृद्धि से संयुक्त करती हूं)—ऋग्वेद के इस वाक्-परिचय का प्रमाण भारत से अधिक अन्य देशों ने दिया है, जिनकी भाषाप्रीति उनकी राष्ट्रनीति का आवश्यक अंग है।

इजराइल जैसे छोटे देश ने हिब्रू जैसी कठिन और प्राचीन भाषा को, भावात्मक दृष्टि से ही अपनी राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है। जापान जैसे लघु पर प्रबुद्ध देश ने विज्ञान जैसे जटिल क्षेत्र के लिए भी अपनी भाषा का प्रयोग

मातृभूमि देवोभव[1]

आज के युग में विद्यार्थी उस प्रकार अपने गुरु का सान्निध्य नहीं पाता, स्नेह तथा वात्सल्य नहीं पाता जैसा प्राचीन काल में पाता था, और निर्देश देने के लिए भी गुरु के पास कुछ नहीं है। आज की स्थिति सुखद नहीं है। हमारे विद्यार्थी कहां जाएंगे, क्या करेंगे—हम नहीं जानते। अध्यापकों ने जो कर सका, आपको योग्यता दी। अब आप भटक सकते हैं। आप अपना कर्मक्षेत्र बना सकते हैं। लेकिन एक बात आज भी हम देंगे। यह जो यज्ञ की ज्वाला हुआ करती थी, उसके प्रतीक रूप में आपके हृदय में हम वह ज्वाला जगा देना चाहते हैं जो जीवन की होती है, जो वास्तव में जीवन को गढ़ती है, नया जीवन देती है। यह ज्ञान की ज्वाला हम अपनी समस्त शुभकामनाओं के साथ आज भी आपको दे सकते हैं।

हमारा अत्यंत प्राचीन देश है और हमारी संस्कृति भी अत्यंत प्राचीन है। प्राचीन संस्कृति वाले देशों के सामने समस्याएं कुछ दूसरी हुआ करती हैं। जिनकी सभ्यता कुछ ही युगों की है, कुछ ही वर्षों की है, नवीन है, उनके पास बहुत कुछ खोने बदलने को नहीं है और खोने बदलने से उनकी कुछ हानि भी नहीं होती। किंतु जहां प्राचीन संस्कृति होती है, वहां जीवन के कुछ मानवीय मूल्य होते हैं, कुछ परीक्षित और हर नये युग में उनकी नव परीक्षा करनी पड़ती है, और फिर प्रयोग में उनको तपाना पड़ता है, देखना पड़ता है कि आज के युग में वे कहां ठहरते हैं। इस प्रकार इतने विशाल देश ने इतने युगों के उपरांत जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना कर उनकी परीक्षा की, उनका प्रयोग किया, उनको लेकर ही आप किसी कर्मक्षेत्र में जा सकते हैं। उन्हें एकाएक बदला नहीं जा सकता।

आज का कर्मक्षेत्र कठिन है, विविध है, निश्चित नहीं है। हमारा वर्तमान समाज जाति-उपजाति, समता-विषमता में विभाजित है। हमारा धर्म अंध-विश्वास से ग्रसित है। हमारी राजनीति स्वार्थ में विभाजित है। हम केवल

१ महारानी लाल कुंवरि महाविद्यालय, बलरामपुर, में दीक्षांत भाषण।

विभाजित ही विभाजित हैं। तब भी मैं यह विश्वास करती हू कि किसी युग का सबसे बडा निर्माण उसका विद्यार्थी है। किसी युग का सबसे बडा वसत उसका तारुण्य है, उसकी नई पीढी है। जब वह पराजित होती है तो सब कुछ पराजित हो जाता है, सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। यदि आप निराश हो, आप यह कि समाज मे हमारा स्थान नही है, कर्मक्षेत्र मे हमारा स्थान नही है, राजनीति मे हमारा कोई स्थान नही है, तो मैं आपको यही उत्तर दूगी कि आप स्थान बनाइए। कोई नदी जो हिमालय के हृदय से निकलती है, चाहे बडी या छोटी धारा मे निकले, शिलाओ से वह मार्ग नही मागती। क्या उसने कभी कहा है कि घाट बनाइए, सगमरमर के या सोने के, चादी के? उसने यह कभी नही कहा। वह शिलाओ को पार करती हुई, अपने उच्छल वेग मे सब पार करती हुई चलती है और उसका नियम है कि तट वह स्वय बनाती है। इसी प्रकार प्रत्येक पीढी अपना मार्ग आप बनाती है। लेकिन अपनी मर्यादा भी बनाती है। जो नदी समुद्र से हिमालय को जोडती है वह नदी मर्यादा भी बनाती है। वह नदी तट भी बनाती है, तट उसे बने-बनाए नही मिलते।

आप यदि यह सोचते हैं कि किस दिशा मे जाए, तो आपके लिए आवश्यक है कि आप जीवन की मर्यादा बनायें और जीवन को वहा पहुचायें जहा हमारी सस्कृति का लक्ष्य था। यह स्थिति ऐसी है, विद्यार्थी का जीवन ऐसा है कि जिसमे तीन युग मिलते हैं, तीन पीढिया मिलती है, तीन स्वप्न मिलते है। आप यह समझ लें कि अतीत मे जो था वह आज आपको प्राप्त है, इस युग की जो परीक्षा है, प्रयोग की स्थिति है, वह भी आपको प्राप्त है। भविष्य का जो स्वप्न है, वह भी आपके सम्मुख है। आपका उत्तराधिकार एक प्रकार से त्रिगुणात्मक है। तीन प्रकार का है। आपके अतीत मे जो मूल्य थे, जीवन के जो मूल्य थे, उनको नये युग में परीक्षित करके भविष्य का चित्र बना लें तो निश्चित रूप से आप अपने देश को अपने लक्ष्य की ओर ले जाएगे। हमारे यहा शिक्षा तो वास्तव मे ज्ञान के सप्रेषण की विधि है। शिक्षा का अर्थ है—सिखलाना। लेकिन हम सिखलायेंगे क्या? इसके लिए हमारे यहा शब्द है—विद्या। विद्या को शिक्षा के माध्यम से प्रेषणीय करते हैं हम। और विद्या है वह ज्ञातव्य, वह विषय, जो हम आप तक पहुचाना चाहते है। हमारे यहा मनीषियो ने इस विद्या को, अर्थकरी और परमार्थकरी, दो भागो मे बाटा है। अर्थकरी विद्या वह विद्या है जो समाज मे आपको उपयोगी बनाती है, जो आपको जीवन की आजीविका की सुविधाए देती है, जिससे आप कर्म के क्षेत्र मे, गाव मे, नगर मे, राष्ट्र मे अपना स्थान बनाते हैं और परमार्थकरी विद्या वह विद्या है जिससे आप समष्टि से जुडते हैं। उसमे मानवीय मूल्य है, जिससे आपका हृदय बनता है, आपकी बुद्धि बनती है, आप उदार बनते हैं, स्नेहशील बनते हैं, सद्भाव एव

पूजीवाद है जो अर्थ को कुछ विशिष्ट व्यक्तियो तक ही सीमित करना चाहता है। दोनो मिलकर हमारे बुद्धिजीवो को, हमारे विद्यार्थी को कभी यहा ले जाते है, कभी वहा। विद्यार्थी को सब प्रकार की भित्तियो से ऊपर उठना चाहिए। भित्तिया वास्तव मे पृथ्वी पर उठाई जा सकती हैं, आकाश के समान मुक्त रखें तो ये *वास्तव मे मिट जायेंगी, क्योंकि ये केवल कल्पना हैं, केवल काल्पनिक* भित्तिया हैं।

मनुष्यमात्र सब जगह समान है, सब जगह पीडित है, सब जगह अभाव से ग्रस्त है। हमारे यहा कहा गया है—'सा विद्या या विमुक्तये'। वह विद्या है जो मुक्ति के लिए है और मुक्ति किसी व्यक्ति की नही है। यह मुक्ति बुद्धि की मुक्ति है, हृदय की मुक्ति है, विचारो की मुक्ति है। यह मुक्ति उच्छृखलता नही है। निर्माण के लिए जो मुक्ति चाहिए वही यह मुक्ति है। उस मुक्ति की कामना करें।

और वास्तव मे आपका पथ प्रशस्त है। आप इसकी चिंता न करें। भविष्य तो उज्ज्वल है ही, यदि आप अपने नैतिक बल को एकत्र कर लें।

आज के अवसर पर मैं अधिक आपसे क्या कहू ? आपके जो शिक्षक हैं उनसे भी कहना चाहूगी कि वे इतना वात्सल्य दें कि आपके सारे अभाव भर जायें, इतना स्नेह दें इस पीढी को कि ये बध जायें। बधन तो हृदय का बधन है, बधन तो भावना का बधन है। और कोई बडा बधन मनुष्य को नही बाधता, और सारी जजीरें मनुष्य तोड-फोड दे, लेकिन बडी रेशमी कोमल जान पडने वाली स्नेह की जजीरें वह नही तोड पाता। उसीसे आप उसे बाधें। आपका शिक्षक, आपका आचार्य आपको उसी प्रकार से बाधे और आप श्रद्धा से, स्नेह से, उसी प्रकार बधें। यदि यह बधन किसी तरह सफल हो सके तो इस देश का भविष्य कभी अधकारमय नही हो सकता। अधकार मे मेरा विश्वास नही। अधकार होता तो बहुत है। अधकार विस्तार से तो होता है परतु उससे एक दीपक भी सघर्ष कर सकता है। एक छोटे-से दीपक को भी अधेरा नही निगल पाता, इसलिए अधकार की चिंता न करें। आपकी दृष्टि मे ऐसा आलोक होना चाहिये कि आप उस पथ को आलोकित कर सकें, प्रशस्त कर सकें।

आपने अभी प्राचार्य से सुना—मातृ देवोभव, पितृ देवोभव ! मैं इसमे एक कडी और जोडूगी और कहूगी—मातृभूमि देवोभव। यह मातृभूमि भी आपकी देवता हो। आज के युग मे यही देवता आपको चाहिए। यदि आप चाहते हैं कि इस सुदर देश को, इस महान सस्कृति को आप सुरक्षित रखें, आपको देखकर कोई कहे कि यह भारतीय है, कोई माने कि जीवन के मूल्य इसके पास है तो आप बहुत बडा कार्य करेंगे। विज्ञान उपयोग मे आ सके, यह मनुष्य के लिए बडी बात है। विज्ञान के पास शक्ति है किंतु अध-शक्ति है। वह कहामनुष्य को

से जायेगा, कहा नही जा सकता। आज वह निर्माण भी कर सकता है, ध्वस भी कर सकता है। अणु से उसने अस्त्र-शस्त्र भी बना लिये हैं। वही अणु जो भयकर रोगो की चिकित्सा कर सकता है, सपूर्ण देश को नष्ट भी कर सकता है। वही हिरोशिमा का विध्वस कर सकता है। नागासाकी का यह हाल कर सकता है। और वही बडे गभीर रोगो की चिकित्सा भी कर सकता है। तो विज्ञान मनुष्य की सद्भावना से अनुशासित रहे। मनुष्य की शक्ति का प्रदर्शन न बने। आप यह तभी कर सकेंगे जब हृदय से, बुद्धि से समन्वयवादी हो जायें, इतने सहृदय हो जायें। तब विज्ञान की सारी शक्तिया आपको दिशा देंगी और कल्याण की ओर ले जायेंगी।

भाषा का प्रश्न

भाषा मानव की सबसे रहस्यमय तथा मौलिक उपलब्धि है। वैसे बाह्य जगत् भी ध्वनि-सकुल है तथा मानसरोवर जगत् को भी अपने सुखद-दुखद जीवन-स्थितियों को व्यक्त करने के लिए कठ और स्वर प्राप्त है।

चेतन ही नही, जड प्रकृति के गत्यात्मक परिवर्तन भी ध्वनि द्वारा अपना परिचय देते हैं। वज्रपात से लेकर फूल के खिलने तक ध्वनि के जितने कठिन कोमल आरोह-अवरोह हैं, निदाघ के हरहराते बवडर से लेकर वासती पुलक तक लय की विविधतामयी मूर्च्छा है, उसे कौन नही जानता ? पशु-पक्षी-जगत् के सम-विषम स्वरो की सख्यातीत गीतिमालाओ से भी हम परिचित हैं। परतु ध्वनियो के इस सघात को हम भाषा की सज्ञा नही देते, क्योकि इसमे वह अर्थवत्ता नही रहती, जो हृदय और बुद्धि को समान रूप से तृप्ति तथा बोध दे सके।

मानव-कठ को परिवेश विशेष मे जीवनाभिव्यक्ति के लिए जो ध्वनिया दाय-भाग मे प्राप्त हुई थी, उन्हें उसने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से सर्वथा नवीन रूपो मे अवतरित किया। उसने अपनी जीवनाभिव्यक्ति ही नही, उसके विस्तृत विविध परिवेश को भी ऐसे शब्द-सकेतो मे परिवर्तित कर लिया, जो विशेष ध्वनि-मात्र से किसी वस्तु को ही नही, अशरीरी भाव और बोध को भी रूपायित कर सके और तब उस वाणी के द्वारा उसने अपने रागात्मक सस्कार तथा बौद्धिक उपलब्धियो को इस प्रकार सग्रथित किया कि वे प्रकृति तथा जीवन के क्षण-क्षण परिवर्तित रूपो को मानव चेतना मे अक्षर निरतर देने की रहस्यमयी क्षमता पा सके।

मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति मे सबसे अधिक समर्थ और अक्षत भाषा ही होती है। वही मानव के आतरिक तथा बाह्य जीवन के परिष्कार का आधार है, क्योकि बौद्धिक क्रिया तथा मनोरागो की अभिव्यक्ति तथा उनके परस्पर सबधो को सग्रथित करने मे भाषा एक स्निग्ध किंतु अटूट सूत्र का कार्य करती है। भाषा मे स्वर, अर्थ, रूप, भाव तथा बोध का ऐसा समन्वय रहता है, जो मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि तक विस्तार देने मे समर्थ है।

मानव-व्यक्तित्व के समान ही उसकी वाणी का निर्माण दोहरा होता है। जैसे मनुष्य का व्यक्तित्व बाह्य परिवेश के साथ उसके अतर्जगत् के घात-प्रतिघात, अनुकूलता-प्रतिकूलता, समन्वय आदि विविध परिस्थितियो द्वारा निर्मित होता चलता है, उसी प्रकार उसकी भाषा असख्य जटिल-सरल, अतर-बाह्य प्रभावो मे गल-ढलकर परिणति पाती है। कालातर मे हमारा समग्र अतर्जगत हमारी सपूर्ण बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता शब्द-सकेतो से इस प्रकार सग्रथित हो जाती है कि एक शब्द-सकेत अनेक अप्रस्तुत मनोराग जगा देने की शक्ति पा जाता है।

भाषा सीखना तथा भाषा जीना एक-दूसरे से भिन्न हैं तो आश्चर्य की बात नही। प्रत्येक भाषा अपने ज्ञान और भाव की समृद्धि के कारण ग्रहण करने योग्य है, परतु समग्र बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता के साथ जीना अपनी सास्कृतिक भाषा के सदर्भ मे ही सत्य है। कारण स्पष्ट है। ध्वनि का ज्ञान आत्मानुभव से तथा अर्थ का बुद्धि से प्राप्त होता है। शैशव मे शब्द हमारे लिए ध्वनि सकेत मात्र होते है। यदि हम ध्वनि पहचानने से पहले उसके अर्थ से परिचित हो जावें तो हम सभवत बोलना न सीख सकें।

अत. यह कहना सत्य है कि वाणी आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है, जो समष्टि-भाव से अपने विस्तार के लिए भाषा का रूप धारण करती है। इसी से पाणिनि ने कहा है :

"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुक्तविवक्षया।" (आत्मा बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन मे बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है।)

मानव-व्यक्तित्व जैसे प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होता है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है और यह प्रभाव भिन्नता का कारण हो जाता है। परतु भाषा-सबधी बाह्य भिन्नताए पर्वत की ऊची-नीची अनमिल श्रेणिया न होकर एक ही सागर-तल पर बनने वाली लहरो से समानता रखती हैं। उनकी भिन्नता समष्टि की गति की निरतरता बनाए रखने का लक्ष्य रखती हैं; उसे खडित करने का नही।

प्रत्येक भाषा ऐसी त्रिवेणी है, जिसकी एक धारा व्यावहारिक जीवन के आदान-प्रदान सहज करती है, दूसरी मानव के बुद्धि और हृदय की समृद्धि को अन्य मानवों के बुद्धि तथा हृदय के लिए सप्रेषणशील बनाती है और तीसरी अत सलिला के समान किसी भेदातीत स्थिति की सयोजिका है।

हमारे विशाल देश की रूपात्मक विविधता उसकी सास्कृतिक एकता की पूरक रही है, उसकी विरोधिनी नही। इसी से विशेष जीवन-पद्धति, चिंतन, रागात्मक दृष्टि, सौंदर्य-बोध आदि के सबध मे तत्त्वगत एकता ने देश के व्यक्तित्व को इतने विघटनधर्मा विवर्तनों मे भी सश्लिष्ट रखा है।

धरती का कोई खंड नदी, पर्वत, समतल आदि का संघात कहा जा सकता है। मनुष्यों की आकस्मिक रूप से एकत्र भीड़ मानव-समूह की संज्ञा पा सकती है, परंतु राष्ट्र की गरिमा पाने के लिए भूमि खंड विशेष की ही नहीं, एक सांस्कृतिक दायभाग के अधिकारी और प्रबुद्ध मानव समाज की भी आवश्यकता होती है, जो अपने अनुराग की दीप्ति से उस भूमि-खंड के हर कण को इस प्रकार उद्भासित कर दे कि वह एक चिर नवीन सौंदर्य में जीवित और लयवान हो सके।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिमकिरीटिनी भारतभूमि ऐसी ही राष्ट्र-प्रतिमा है। ऐसे महादेश में अनेक भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है, किंतु उनमें से प्रत्येक भाषा एक वीणा के ऐसे सधे तार के समान रहकर ही सार्थकता पाती है, जो रागिनी की संपूर्णता के लिए ही अपनी झंकार में अन्य तारों से भिन्न है।

सभी भारतीय भाषाओं ने अपनी चिंतना तथा भावना की उपलब्धियों से राष्ट्र-जीवन को समृद्ध किया है। उनकी देशगत भिन्नता, उनकी तत्त्वगत एकता से प्राणवती होने के कारण महार्घ है।

ज्वाला धरती की गहराई में कोयले को हीरा बनाने की क्रिया में संलग्न रहती है, और सीप जल की अतल गहनता में स्वाति की बूंद से मोती बनाने की साधना करती है। न हीरक धरती की ज्वाला को साथ लाता है, न मुक्ता जल की गहराई को, परंतु वे समान रूप से मूल्यवान रहेंगे।

हम जिस संक्रांति के युग का अतिक्रमण कर रहे हैं, उसमें मानव जीवन की त्रासदी का कारण संवेदनशीलता का आधिक्य न होकर उसका अभाव है।

हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ हमारी मानसिक परतंत्रता का ऐसा ग्रंथि-बंधन हुआ है, जिसे न हम खोल पाते हैं न काट पाते हैं। परिणामतः हमारे विकास के मार्ग को हमारी छाया ही अवरुद्ध कर रही है।

अतीत में हमारे देश ने अनेक अंधकार के आयाम पार किये हैं, परंतु इसके चिंतकों, साधकों तथा साहित्य-स्रष्टाओं की दृष्टि के आलोक ने ही पथ की सीमाओं को उज्ज्वल रखकर उसे अंधकार में खोने से बचाया है।

भाषा ही इस आलोक के लिए संचारिणी दीपशिखा रही है।

पावका नः सरस्वती।

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकार और आत्मा दोनो दृष्टियो मे महान और सुदर है। उसका वाह्य सौंदर्य विविधता की सामजस्य-पूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौंदर्य विविधता मे छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणो की रेखाओ से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढे हुए मरु हो, चाहे सावले भरे मेघ हो, चाहे लपटो मे सास लेता हुआ ववडर हो, सब अपनी भिन्नता मे भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अग का टूट जाना सपूर्ण देव विग्रह को खडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता मे व्याप्त सास्कृतिक एकता न होती, तो यह विविध नदी, पर्वत, वनो का सग्रह-मात्र रह जाता। परतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अतरात्मा को एक रसमयता मे प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि मे वध जाता है।

हर देश अपनी सीमा मे विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुडा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्मरक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता मे है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता मे है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास मे योग देता है। यह सभी वाह्य और स्थूल तथा आन्तरिक और सूक्ष्म स्थितियां एक-दूसरी पर प्रभाव डालती और एक-दूसरी से सयमित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खड मे रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, संपर्क और संघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और उसमे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय

आदि से उसका कर्म-जगत ही सचालित नही होता, प्रत्युत अतर्जगत और मानसिक सस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनिषेधमयी आधार नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनत विकास-क्रम मे बधकर ही एक विशेष भूमडल मे स्पदित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते है। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है, न शून्य म स्थिति रखने वाले मानवो की भीड मात्र।

एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर से सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट सकल्प-स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपो और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियो का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितिया क्षणजीवी होती हैं, परतु उनके सस्कारो का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है, परतु उसका सास्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही सभव है।

वैसे व्यापक अर्थ मे मानव-सस्कृति एक ही है, क्योकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का सस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है। परतु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसका आधियो से लोहा लेने वाला तना, मद वायु के सामने झुकने वाली शाखाए, चिर चचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अगो का गठन और विकास एक रूप नही होता, वैसे ही मानव-सस्कृति एक होकर भी अनेकरूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव म जितना समृद्ध है, अपनी आतरिक विभूतियो में उससे कम गुरु नही। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनो को जोडने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना हागा, जो एक हिमालय से निकलकर एक समुद्र मे मिलने के पहले अनेक धाराओ मे बिखर-बटकर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर पास के अगो से रक्त का एक हृदय मे आना और पुन अनेक म लौट जाना ही शरीर की सचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय सस्कृति बार-बार एक केंद्र-बिंदु को छू कर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय मे हमारी नैतिक मान्यताए तत्वत एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता म भी एक ही हैं।

जहा तक भाषा का सबध है, प्रत्येक विद्वान जानता है कि ध्वनि पर कठ और कठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा मे भी एकरूपता नही रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र मे विविध भाषाओ की स्थिति स्वाभाविक है, परतु किसी भी जीवित-जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्को से नही की जा सकती जो बाजार मे क्रय-विक्रय के जड माध्यम मात्र हैं। वस्तुत भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है, पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के सयोग से प्राप्त होता है। विशेष भू-भाग मे रहने वाले मानव समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ उस समूह के जीवन, सुख-दु ख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकाक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अत भाषा के साथ किसी जाति की सस्कृति भी अविच्छिन्न सबध मे बधी रहती है, क्योकि उसके अभाव मे भाषा के विकास की आवश्यकता नही रहती। यदि हमारी थोडी-सी स्थूल आवश्यकताए है, तो उन्हे व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-सकेत ही पर्याप्त होगे।

किसी हाट म क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दो की सख्या अधिक नही होती, परतु जब हम अपने भाव-जगत, विचार मथन, सौंदर्य-बोध आदि को आकार देने बैठते हैं, तब हमे ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पडती है, जो भाव के हर हल्के रग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौंदर्य की हर सूक्ष्म-स्थूल रेखा को आक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते है कि उसे बोलने वाली जाति सास्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। सस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चितन, सकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परपरा छिपाये रहता है, इसी से सस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनो सीमाए छूता हुआ चलता है। भाषा सस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अत. वह भी अनेक सकेतो और व्यजनाओ मे ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अधकार के अनेक युग पार किये हैं, परतु अपने सास्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकात सावधान रहा है। उसमे अनेक विचारधाराए समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओ ने स्थान पाया, पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियो के समान भारतीय भाषाओ के बाह्य और आतरिक रूपो मे उत्सगत विशेषताओ का सीमित हो

जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं, परन्तु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिंतन और भावजगत में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों से हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं—भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता, परन्तु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं जिसमें एक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहाँ तक बहुभाषा-भाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है, पर उनकी अविच्छिन्न स्वतंत्रता की परंपरा ने उन्हें सम-विषम स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतंत्रता आँधी-तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक सपर्श तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कंपित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मंद समीर के समान साँस में समा-कर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने संपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्वह नहीं अनुभव किया और हम यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित पर राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है, न स्थायी। घटनाएं संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय वाहक शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। परलोक की स्थिति को स्थायी मानकर तो चिकित्सा संभव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न-साध्य है, क्योंकि शरीर को बाँधने वाली शृंखला से आत्मा को जकड़ने वाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्र-भाषा की स्थिति के संबंध में विवाद नहीं है, पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूरतम होता जा रहा है। विवाद जब तर्क की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है, पर जब उसके मूल में आशंका, अविश्वास और अनिच्छा रहती है, तब कहीं न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अंतर दूर कर एक-

देश को दूसरे के पास पहुंचा दिया है, जब अणुबम की अतंक छाया मे भी अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वस की लपटो के नीचे भी निर्माण के अकुर सिर उठा रहे हैं, तब हम अपने मनो की दूरी बढाकर, सदेह के प्राचीर खडे कर और विरोध के स्वरो मे बोलकर अपनी महान परपराओ की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुदर स्वप्न अनेक सुदर स्वप्नो मे समाकर जीवन को विराट सौदर्य देता है, एक शिव सकल्प अनेक शिव सकल्पो मे लीन होकर मनुष्य को विशाल शिवता देता है, एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिलकर विश्व को अक्षय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओ मे मिलकर जीवन को विरूप कर देता है, एक अविश्वास अनेक अविश्वासो के साथ मनुष्य को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातो को पक्तिबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौदर्य और गति देनेवाली प्रवृत्तियो के साथ रहकर जिन प्रश्नो का समाधान करना चाहेगे, वे स्वय उत्तर बन जायेंगे।

जहा तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओ की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता-भरे प्रदेश मे अनेक देशज बोलियो के साथ पलकर बडी हुई है। अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, बघेलखडी आदि उसकी धूल मे खेलने-वाली चिर सहचरिया हैं। इनके साथ कछार और खेतो, मचान और झोपडियो, निर्जन और जनपदो मे घूम-घूमकर उसने उजले आसू और रगीन हसी का सबल पाया है।

साधको ने अपने कमडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्य-वाद का स्वर्ण मुकुट न इसकी धूलि-धूसरित उन्मुक्त अलको को बाध सका है, न बाध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या इसे बुझा नही देगा?

जब राजतंत्र के युग मे भी वह द्वार-द्वार समानता का अलख जगाती रही, तब आज जनतत्र के युग मे उसके लिए प्रसाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जायेगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरो की परिकल्पना।

हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति मे रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोश मे मिल सकेगा। उसने देशज बोलियो तथा देशी-विदेशी भाषाओ से शब्द ग्रहण करने मे न कभी सकीर्णता दिखाई और न उन्हें अपना बनाने मे दुविधा का अनुभव किया। परतु विकसित, परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई सर्वमान्य रूप या मानदड न हो, ऐसा सभव नही होता।

आज हिंदी मे साहित्य-सृजन करनेवालो मे कोई बिहार का मगही-भाषी है, कोई मथुरा का ब्रज-भाषी। परतु बुदेलखडी बोलनेवाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण,

बैसवाडी बोलनेवाले कविवर निराला और कुमाऊनी बोलनेवाले श्री सुमित्रानदनजी क्या समान रूप से वरद पुत्र नही कहे जाते ? यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुदेली हिंदी नही बनाया जा सकता, तो उसका कारण हिंदी का सश्लिष्ट रूप और मूलगत गठन है, जिसके बिना कोई भाषा महत्त्व नही पाती।

अग्रेजी भाषा-भाषी विश्व भर मे फैले है, उनमे देशज सस्कार भी हैं, परतु इससे अग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खडित होता है और न उसे नये नामकरणो की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओ के सबध मे यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है, पर परिवर्तन मे अतर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु के वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनो का क्रम पार करता है, परतु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्ण रहकर उसे एक सज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल सकेत-लिपि नही है, प्रत्युत उसके हर शब्द के पीछे सकेतित वस्तु स्पदित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अत: एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढी जाती है, परतु वह कुभकार का घट-निर्माण नही, मिट्टी का अकुर-निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियो को नये लक्ष्य से जोडकर हम उसके अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं, उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियो से नये भाव, नई वस्तु, नये विचार जोडकर हम उसे नये रूपो से समृद्ध करते रहते हैं। हिंदी का प्राकृत से ब्रज-अवधी तथा उनसे खडी बोली तक आने का क्रम जितना आश्चर्यजनक है, उतना ही अनायास; क्योकि जिस लोकहृदय के साथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का-सा सबध था, जिसमे एक देकर पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिंदी अपना भविष्य किसी से दान मे नही चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए शिला नही बन सकती, उसी नियम से हिंदी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नही कर सकती।

यह आकस्मिक सयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है, जिसके कारण हिंदी के भावी कर्तव्य को जिन्होने पहले पहचाना, वे हिंदी-भाषी नही थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गाधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-सस्थापक, साधक और चितक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर सकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नही पहुच जायेगी, क्योकि स्वीकृतिमात्र न गति है, न गतव्य। वस्तुतः सपूर्ण भारत

सघ को एकता के सूत्र मे बाधने के लिए उसे दोहरे सबल की आवश्यकता है। एक तो आतरिक, जो मन के द्वारो को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य, जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशो के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नही है; क्योकि दीर्घकाल से वह सत-साधको की मर्मवानी बनकर ही नही, हाट-बाजार की व्यवहार बोली के रूप मे भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशो से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खडित और अतीत मिथ्या हो जायेगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदो का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माजा और खरादा है कि उसे किसी बडी शल्य-चिकित्सा की आवश्यकता नही है। नाममात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यत्रो के साथ अपनी सगति बैठा लेगी, परतु तत्सबधी विवादो ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरूह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का सदेश वहन करने मे समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाए दुर्लंघ्य कैसे मानी जा सकती है!

स्वतत्रता ने हमे राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तत्र और उसके सचालक भी उसके अपवाद नही हो सकते, परतु हमारे पथ की सबसे बडी बाधा यह हमारी स्वतत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अधकार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय मे बैठ सके ऐसा कोई बाण अधेरे के तूणीर मे नही होता है। यदि हमारी आत्मा मे विश्वास की निष्कप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा को सीखना उसके साहित्य को जानना है और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूति है। हम जब साहित्य के स्वर मे बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर समुद्रो पर सेतु बाधकर, दुर्लंघ्य पर्वतो को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दुख की कथा मनुष्य तक अनायास पहुचा देते हैं।

अस्त्रो की छाया मे चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियो के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं, पर मानव-एकता के पथ पर पडा कोई चरण-चिह्न अब तक नहीं मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब तक भग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनत युगो मे जो मातृभूमि गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वदेमातरम् तक एक, अखड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोच हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कंठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका संदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बनकर निःशेष नहीं हो जाता, वरन् आत्मा से मिलकर स्वप्न संकल्पों में फूलता-फलता रहता है।

हिंदी के धरातल पर संत रविदास और भक्त सूरदास पग मिलाकर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कंधा मिलाकर खड़े हुए हैं।

जहां संप्रदाय की कठिन सीमाएं भी तरल होकर गल गईं, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी!

साहित्य और साहित्यकार

मनुष्य का विकास समस्याओ का विस्तार है, यह आज के युग मे जितना सत्य है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य युग मे रहा हो।

विज्ञान एक ओर मनुष्य की भौतिक समस्याओ को हल करता है, दूसरी ओर उसकी मानसिक समस्याओ को जटिलतर बनाता चलता है। उसने मनुष्य को हानि पहुचाने वाली प्रवृत्ति को उसकी शक्ति का मापदड बनाकर जीवन मे एक चिंतनीय स्थिति उत्पन्न कर दी है। आतक के पखो पर आने वाली ध्वसात्मक प्रवृत्तिया अपने वेग के कारण तुरत दृष्टि का केंद्र बन जाती हैं। पर निर्णायक प्रवृत्तियो का अस्तित्व उनके निर्माण मे ही व्यक्त हो सकता है। हम आधी, वज्रपात के समय आकाश की ओर जितने उन्मुख होते हैं, उतने सुनहली धूप मे नहाते समय नही। किसी ज्योतिष्पिड का टूटना हमे जितना विस्मित करता है, उतना अकुर का धरती से फूटना नही। वैसे ज्योतिष्पिड के टूटने मे सनातन ऋतु नियम टूटता है, अकुर फूटने मे वह नियम अखंड रहता है। इसी से आलोकित आकाश से धरती पर गिरकर ज्योतिष्पिड आलोकरहित [illegible] मात्र रह जाता है और अकुर पल्लवित होकर धरती के अधकार से आकाश के आलोक की ओर बढता है।

साहित्य मूलत निर्माण है—व्यक्ति के लिए भी और समष्टि के लिए भी, अत उसे सृजन के किसी विराट् ऋतु की परिधि मे चलनेवाले [illegible] ऋतु की ही सज्ञा दी जा सकती है। सृजन के अन्य महान ऋतुओं के समान ही वह वरदान और अभिशाप का भागी है।

वरदान है कि मानव-जीवन की विकास-परपरा का [illegible] किया [illegible] उसे खडित नहीं किया जा सकता। अभिशाप है कि उसकी स्थिति में दूसरों की आस्था ही उसकी उपेक्षा का कारण बन जाती है।

आज के विज्ञान-समृद्ध और राजनीति-अनुशासित युग मे यदि किसी [illegible] कहा जाये कि उसे साहित्य के बिना जीना चाहिए तो वह विस्मित भी होगा और रुष्ट भी। उसे यह सुझाव जीवन के निषेध जैसा भी लग सकता है और [illegible]

साठन जैसा भी। परतु यदि ससार के सब महान साहित्यकार समवेत स्वर मे घोषणा करें कि वे साहित्य-सृजन नहीं करेंगे, तो न कोई उनका विश्वास करेगा और न उन्हें इस निश्चय से विरत करने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अन्य क्षेत्र के व्यक्ति, चाहे वे वैज्ञानिक हो चाहे श्रमिक, यदि अपने कार्य से विरत होने की घोषणा करें, तो उन्हें रोक सकने के लिए दड और पुरस्कार दोनो के विविध उपयोग किये जायेंगे।

इस प्रत्यक्षत उपेक्षित स्थिति के मूल मे साहित्य के प्रति कोई अटूट आस्था नही है, यह मान लेना उचित न होगा।

हम रात-भर सूर्य के लौटने के लिए प्रार्थना नही करते। हम ग्रीष्म की दोपहरियों मे समुद्र-तट पर बैठकर उससे बादल भेजने के लिए निहोरा नही करते। हम सास के लिए पवन के पास दूत नही भेजते, पर क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हमे उनकी निरतर उपलब्धि मे अखड विश्वास है? साहित्य का प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है। साहित्य की स्थिति मे आस्था रखने के कारण ही हम उसके स्रष्टा के अस्तित्व के विषय म आश्वस्त हैं। साहित्य हमारे निकट जीवन की गभीर अभिव्यक्ति है इसका अलकारमात्र नही, अत उसकी प्राप्ति की दशा म हमारे सावधान प्रयत्न मात्र पर्याप्त नही होते।

पर इस आस्था ने साहित्य के जीवन के सभी प्रश्नो को दोहरे समाधानो से बाध दिया है। उसकी महानता और लघुता की कसौटी समाधानो के चुनाव मे है। वह व्यक्ति भी है और सस्था भी। व्यक्ति किसी निर्माण को समग्रता म न देखते हुए भी श्रम कर सकता है परतु सस्था को तो समग्रता मे ही निर्माण करना होता है।

व्यक्ति यदि जीवन के किसी अश का मूल्याकन है, तो सस्था अनेक मूल्याकनो का मूल्याकन कही जायेगी। साहित्यकार यदि व्यक्तिगत सीमाओ को सर्वथा भुला दे, तो वह भीड का अंग मात्र रह जाता है और यदि वह समष्टि का विस्तार भूल जावे, तो एकाकी रह जाता है। इसी से जीवन के सरल प्रश्न भी उसकी सीमा मे आते ही जटिल हो जाते हैं, तो आश्चर्य की बात नही।

साहित्य-सृजन केवल रुचि, इच्छा या विवशता का परिणाम नही है, क्योकि इसके लिए एक विशेष प्रतिभा और उसे सभव करने वाले मानसिक गठन की आवश्यकता होती है।

किसी अनिवार्य विवशता, किसी सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति मे यह प्रतिभा कुठित हो सकती है, यह मानसिक गठन विघटित हो सकता है, परतु केवल स्ववशता और अनुकूल परिस्थिति मानसिक गठन का निर्माण कर इस प्रतिभा का सृजन करने म समर्थ नही होती। इसी से हम महान प्रतिभाओ को इच्छानुसार बाजीगर के चमत्कार के समान प्रत्यक्ष और तिरोहित नहीं कर पाते।

मनुष्य अपनी रागात्मक व्याप्ति के बिना समष्टि मे पहचाना नही जा सकता। वह अपने बौद्धिक विस्तार के बिना माना नही जा सकता और इस व्याप्ति के मूल्यांकन के अभाव मे मानव जाति की प्रगति का लेखा-जोखा अमिट नही रह सकता। नदी जिस प्रकार दोनो तटो का अलग-अलग स्पर्श करके भी अपनी एकता मे एक रखती है, उसी प्रकार साहित्य जीवन की भिन्न जान पडने वाली वृत्तियों को अपने स्पर्श की एकता मे एक रखता है।

वह बहुमुखी दायित्व देने वाला ऐसा रागात्मक कर्म है जिसके कारण साहित्यकार की स्थिति को एक कोण से देखना कठिन हो जाता है।

उसका सृजन न केवल श्रम है और न आजीविका के लिए स्वीकृत कोई पेशा या व्यापार मात्र। न वह व्यक्ति का निरानद आत्मदान है और न समाज से औपचारिक आदान।

केवल श्रमिक की स्थिति स्वीकार कर लेने पर मूल्य की माग मात्र उसके हाथ रहती है। श्रम का प्रकार दूसरे की इच्छा और आवश्यकता पर निर्भर हो जाता है। श्रम लेने वाले और देने वाले की स्थिति का व्यावहारिक आधार निश्चित और स्पष्ट होने के कारण श्रम और मूल्य के अनुपात-सबधी प्रश्नों को सुलझाना कठिन नही हो सकता।

यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जाए, तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्त क्षितिज मिल सकता है और न उक्त कर्म से उसके अविच्छिन्न लगाव को उचित कहा जा सकता है।

यदि उसमे एक व्यापार के लिए आवश्यक कुशलता का अभाव है, तो दूसरे क्षेत्र से अपनी पटुता की परीक्षा उसके लिए अनिवार्य हो जाएगी।

साहित्य को समाज के प्रति व्यक्ति का निरानद दान या समाज का व्यक्ति को बलात् सौंपा हुआ कर्म मान लेने पर वह विवशता का पर्याय हो जाता है और हर विवशता के लिए मनुष्य के मनोजगत् मे विद्रोह ही स्वाभाविक है।

वस्तुत साहित्य की समस्याए जीवन की समस्याओ के समान एक परिधि मे एक-दूसरे को कडी बनकर घूमती हैं। इनका एक छोर पकडने का प्रयास, वृत्त का छोर खोजने के समान स्पर्श से निकट, पर दृष्टि से दूर रहता है।

साहित्यकार क्यो लिखता है ? वह अपनी तृप्ति के लिए लिखता है अथवा समष्टि के सतोष के लिए ? साहित्य-सृजन साहित्यकार का स्वेच्छा से किया आत्मदान है अथवा समाज की मांग की पूर्तिमात्र ? साहित्य सृजन अपने स्रष्टा के लिए जीवन है या जीवन-यापन का साधन मात्र। साहित्य युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष ? साहित्य के प्रेय और श्रेय की परीक्षा किसे दृष्टि मे रखकर की जाये ?—आदि-आदि प्रश्न ऐसे हैं, जिनके समाधान जीवन की समग्रता मे ही प्राप्त हो सकते हैं, उसे अशतः देखने मे नहीं।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वय व्यक्तिगत रुचि का निषेध है।

मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश मे उत्पन्न होता है और कुछ सस्कार उसे अपने परिवेश मे उत्तराधिकार मे प्राप्त होते हैं और कुछ उसके व्यक्तिगत मधुर-कटु अनुभवो से बनते हैं। उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हें वह सामाजिक प्राणी के नाते स्वीकार करता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों मे सघर्ष की सभावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यो को सस्कृत कहते हैं।

मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है, क्योकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज-विशेष के स्वार्थ मे लय नही हो जाता, वरन् मानव समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है।

मनुष्य केवल प्राण-सवेदनयुक्त जीव ही नही है, वह असख्य मानसिक सभावनाओ और सवेदन के विविध स्तरों का सघात है। बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और अत करण की प्रवृत्तियो म सामजस्य लाने का सचेतन प्रयास और उससे आनद की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे शेष सृष्टि से भिन्न कर देती है केवल शारीरिक यात्रा के साधन और आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमे अन्य प्राण-सवेदनयुक्त जीवो के समान होना स्वाभाविक है। परतु अपनी सामान्य स्थिति से असतोष, अज्ञात स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभव तथ्यो के आधार पर सर्वथा अनुभूत सत्यो तक पहुचने का प्रयास, प्रयास मे आनदमयी स्थिति की परिकल्पना और अप्राप्त लक्ष्य में आस्था आदि विशेषताओ के कारण ही वह विशिष्ट है। अपनी विकासनिष्ठ क्रिया को अबाध रखने के लिए वह अपने बौद्धिक और मानसिक स्तरों का सगठन और सशोधन नये नये प्रकारो से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही सचालित न होकर वह उसपर अपने अतर्जगत् को भी प्रतिफलित करता चलता है, इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसिक सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास मे योग दिया है। पर मनुष्य की व्यष्टि और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भाव-निष्ठ अभिव्यक्तिया, साहित्य की अधिक ऋणी हैं। जीवन की समग्रता से स्पर्श करने के कारण और बुद्धि तथा अत करण की विभिन्न वृत्तियो को सश्लिष्ट करने की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्गीथ बन गया है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य विशेष व्यक्ति कर पाते हैं जिन्हें उनके परिवेश तथा बुद्धि अत करण की वृत्तियो ने उपयुक्त साधनो से

सम्पन्न कर दिया है। वे न अमानव हैं और न अतिमानव, प्रत्युत विकास के ऐसे बिंदु पर सामान्य मानव हैं कि जीवन और परिवेश में अव्यक्त हलचल भी उनकी अनुभूति में व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनुकरण माना हो, चाहे कल्पनासृष्टि, चाहे जीवन-नीति का सचालक कहा हो, चाहे सौंदर्यबोध मात्र परंतु उसके स्रष्टा की विशिष्ट प्रतिभा को सभी ने स्वीकार किया है। अभ्यास मात्र से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन सभव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नहीं करता, अन्य अतीत युगों की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में साहित्य को व्यक्तिगत रुचिमात्र मान लेना, उसके युगांतर-व्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तिगत का परिणाम है, इसी अर्थ में उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है। पर इस अर्थ में मानसिक ही नहीं, भौतिक विकास भी वस्तुनिष्ठ रहेगा। विकास के रहस्यमय क्रम में एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है, इसी प्रकार विकास की परंपरा अबाध चलती हुई विकास का मानदंड निर्मित करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वय भी बनता है, क्योंकि उसमें नए सवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्यबोध उदय होता है और नये जीवनदर्शन की उपलब्धि होती है। साराश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य स्वातः सुखाय का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्त्ता को बनाने के साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन सवेदनों, सौंदर्यबोधों और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रंग-रसमयता नहीं है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश की शक्तियों का सयोजन और सवर्द्धन भी करता है। पौधा, मिट्टी, धूप, पानी आदि नहीं बनाता, परतु इनकी सम्मिलित शक्तियों का रसायन ग्रहण कर स्वय बनता है और व्यक्त करने के लिए अपने परिवेश को बनाता है। मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी का लोहा। वह केवल प्राकृतिक उपादानों और उनकी शक्तियों को सयोजित कर अपनी मानसी सृष्टि को प्रत्यक्ष कर स्वय सतोष पाता और समष्टिगत परिवेश का सवर्द्धन करता है। सगीतकार भी स्वरों का और तारों की धातु का सृजन नहीं करता। चित्रकार भी प्रकृति में बिखरे रंग और रेखाओं का सृजन नहीं करता, नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता।

शिल्पी पाषाण में अव्यक्त आकारों को व्यक्त आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रंग-रेखाओं के सयोजन में छिपी अतर्निहित सामजस्य को अवतार देकर और नृत्यकार व्यापक गति को जीवन की विविध चेष्टाओं में छदायित कर जो

सृजन करता है, वह व्यक्ति सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि न माध्यम व्यक्ति-निष्ठ है और न बौद्धिक प्रक्रियाएं और मानसिक वृत्तियां केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य अव्यक्त संभावनाएं और संवेदन किसी न किसी बिंदु पर सब के हो जाते हैं और सब के हो जाने में ही उनकी कृतार्थता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है, वह भौतिक जगत् में अधिक है, पर ज्यों ज्यों हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं, त्यों-त्यों ये कठिन रेखाएं गल-गल कर तरल होने लगती हैं। दो पत्ते भी समान नहीं हैं, पर दो मनुष्य आकार में भिन्न होकर भी संवेदन के स्तर पर समान हो सकते हैं।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियां कालांतरव्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसके स्रष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं? जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय में साहित्य के चिह्न हैं, अतः उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर जब हम उसे सामाजिक कर्म मान लेते हैं, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतर-कर सामाजिक धरती पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान भी नये रूप में उपस्थित होता है।

यदि सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है, तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है और ये दोनों परिवेश कभी-कभी एक-दूसरे से इतने भिन्न जान पड़ते हैं कि देने वाले तथा पाने वाले में कोई संबंध खोज लेना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही साहित्य रुचि विशेष की भ्रांति उत्पन्न कर देता है।

यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्य-सृजन व्यक्तिगत रुचिमात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की, सामाजिक प्राणी की और विशेष कार्यक्षम सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है, समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। समाना अजन्ति—समान सचरणशील व्यक्ति ही समाज है। इन व्यक्तियों में, व्यष्टिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण में साम्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष की संभावनाएं ज्यों ज्यों घटती जाती हैं, त्यों-त्यों व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है। और पूर्ण विकसित समाज में व्यक्ति के सीमित परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी क्रियाशीलता को समाज को सौंप देता है। और इस समर्पण से वह स्वयं एक विशाल और निरंतर सृजन का अंशभूत हो जाता है। पर स्वस्थ समाज में व्यक्ति की क्रियाशक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के विकास की सुविधा ही रहती है। जब ऐसा तारतम्य नहीं रहता, तब ऐसी

विच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है, कभी अपराध की संज्ञा पाती है।

स्वयं को शासित रखने के लिए समाज एक लिखित विधि-निषेधमय विधान रखता अवश्य है, पर वह सचालित ऐसे अलिखित विधान से होता है, जो परपरा रुचि, आस्था, सस्कार, मनोविकार आदि का सश्लिष्ट योगदान है।

पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से नही घेर सकता, क्योकि मानव-स्वभाव का बहुत-सा अश समाज की सीमारेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक सस्थाओ के सपर्क मे आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जायगा। समाज यदि मनुष्यो के समूह का नाम नही है, तो मनुष्य भी केवल क्रियाओ का सघात नही है, दोनो के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और विषाद की प्रेरणा रहती है। आचरण की सेना के समान कवायद सिखा देना ही जीवन नही है, वरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारो के उद्‌गम खोजकर उनमे विकास की अनुकूलता पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्‌देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छद मानव-स्वभाव मे, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।

एक ओर वह विधि-निषेध से बाहर उडनेवाले मानव-मन को समष्टि से बाधकर उसकी निरुद्‌देश्य उडान को थाम लेता है और दूसरी ओर समाज की दृष्टि से ओझल मानव-स्वभाव की विविधताओ को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्याकन को समृद्ध करता है। इस प्रकार निर्बंध कुछ बध जाता है और बद्ध के बधन कुछ शिथिल हो जाते हैं।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूढने नही जाना पडता। वह एक विशेष परिवेश मे जन्म लेकर वृद्धि के साथ साथ सामाजिक सस्थाओ से परिचित और अनुशासित होता चलता है। जैसे उसे सास के लिए वायु अनायास मिल जाती है, उसी प्रकार समाज का दान भी अयाचित और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है। जब तक वह अपने-आपको जानने की स्थिति मे पहुचता है, तब तक समाज उसे एक साचे मे ढाल चुकता है, परतु यदि मनुष्य अपने इसी निर्माण पर सतुष्ट हो सके, तो उसमे और जड मे अतर ही क्या रहेगा! वह दर्जी के सिले कपडो के समान समाज के विधि-निषेध को धारण कर लेता है और तब उनके तग या ढीले होने पर, सुदर या कुरूप होने पर सतुष्ट-असतुष्ट होता है।

यह सतोष-असतोष समाज के शासन की परिधि मे नही आता, पर साहित्य

इसीका मूल्याकन करता है। दूसरे शब्दो मे समाज के दान की जहा इति है, साहित्य का अर्थ उसी बिंदु से चलता है।

अतः साहित्यकार का सामाजिक कर्म अन्य कर्मों को तोलने वाले तुला और बाटो से नही तुल सकता। अन्य क्षेत्रो मे समाज अपने सदस्यो की क्रिया-शक्ति को अपने अधीन कर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार उनका कार्य निश्चित कर देता है और उसके प्रतिदान मे उन्हें जीवन-यात्रा की सुविधाए देता है। दोनो पक्षो का आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय मे किसी सदेह का अवकाश कम रहता है।

भारी पैनी तलवार गढ़नेवाले लोहकार के कार्य का महत्त्व भी समाज जानता है और हल्की अगूठी मे रत्नो की बारीक जड़ाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उनसे छिपा नहीं है। कष्टलभ्य वस्तुओ का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योग्यता का भी उसे ज्ञान है और मदिर मे जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना मे भी उसका विश्वास है। न्यायासन पर दड-पुरस्कार का वितरण करने वाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय मे उसे सदेह नही है और समाज की नई पीढी की परपरानुसार शात-दांत बनाने मे लगे शिक्षाशास्त्री के कार्य का भी उनके पास लेखा-जोखा है।

इन विविध कर्तव्यो को, उसने अधिकारी व्यक्तियो को स्वय सौंपा है और इन कर्तव्यो के विषय मे एक परपरागत शास्त्र भी निश्चित है। वे कैसे करते हैं यह दूसरा प्रश्न है, परतु वे क्या करें और क्या न करें, के विषय मे द्विविधा नहीं है। कठिन दड के पात्र को दड कम मिले या न मिले, यह मतभेद का विषय हो सकता है, परतु दड-पुरस्कार विधान समाज-स्वीकृति है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौंपा गया है। हर सामाजिक सस्था समाज का अग है और वह मनुष्य-जीवन के उन्ही अशो से सबद्ध रहती है, जिन पर समाज की सत्ता है। मानव-समाज का जो अश समाज के विधि-निषेध की परिधि के बाहर अस्तित्व रखता है उसके लिए सामाजिक सस्था नही बनाई जा सकती, पर उस तक समाज के सुख-दुःखो की अनुभूति पहुचाकर उसे समाजोन्मुख किया जा सकता है। पर यह कार्य व्यक्ति करता है, जिसे समाज के सौंदर्य और विरूपता, सुख और दुःख की व्यष्टिगत, पर तीव्र अनुभूति होती है। समाज अपने अन्य क्षेत्रो के समान इसके हाथ मे कोई विधि-निषेध-शास्त्र देकर नहीं कह सकता, मैं तुम्हे कवि, नाटककार आदि कर्तव्य पर नियुक्त करता हू, तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।

वस्तुतः समाज किसी साहित्यकार के अतर्जगत की हलचल से परिचित तब होता है, जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। इस अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक शक्तियो से और उनकी अनुभूति की तीव्रता से समाज अपरिचित रहता

है और यह अपरिचय एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को विरोधी पक्षो मे भी खडा कर सकता है ।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है, पर क्या उसी तरह निर्भर पर्वत की अपराजेय शक्ति नही है ? क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी कठोर शिलाओ से सघर्ष नही करना पडता ? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो प्रपात को जमकर शिलायित होना पडेगा। सतान का जन्म माता की पीडा का भी जन्म है । इसी प्रकार साहित्य भी, समाज मे, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमे कोई उद्वेलन, कोई असतोप उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति मे समाज, साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप मे स्वीकार न करे, तो आश्चर्य नही। जिस युग मे समाज की दबी हलचलें उसके अन्य क्षेत्रो मे भी कुछ असतोप उत्पन्न करने लगती हैं, उसमे साहित्य सहज ही नेतृत्व प्राप्त कर लेता है, पर जिन युगो मे समाज के अव-चेतन मन पर जडता का स्तर कठिन हो जाता हैं, उनमे साहित्य को अकेले जूझना पडता हैं ।

परतु साहित्य चाहे जिस भूमिका मे उपस्थित हो, वह मानव जाति का, विकास के समान ही अविच्छिन्न साथी रहता हैं । प्रत्यक्ष वस्तु सत्य से अप्रत्यक्ष सभाव्य सत्य तक उसकी सीमाए इस प्रकार फैली रहती हैं कि मनुष्य उसे अपने अतीत विकास का प्रमाण मानता है, वर्तमान का मापदड भी और अनागत भविष्य का सकेतधर भी। सभी देशों मे साहित्य का सृजन विशेष प्रतिभा से सबद्ध है, और विशेष प्रतिभा सपन्न साहित्यकार का विशेष महत्त्व भी सर्व-स्वीकृत है । आज तक प्रतिभा को समान रूप से बाटने का उपाय विज्ञान को उपलब्ध नही हो सकता है, अत साम्योपासक देशो मे भी प्रतिभा-सपन्न साहित्यकारों को असामान्य स्थिति प्राप्त है ।

वस्तुत साहित्य-सृजन समग्र जीवन, शक्तियो का सश्लिष्ट दान है । जीवन मे कुछ कार्य जीवन-निर्वाह के साधनमात्र है, कुछ जीवन के साध्य हैं और कुछ साधन-साध्य दोनो का एकीकरण हैं। केवल बाह्य जीवन मे सीमित क्रिया साधन हो सकती है, केवल अनर्जगत् मे मुक्त साध्य हो सकती है, परतु अतर्जगत् की प्रक्रिया का बाह्य रागात्मक अवतरण साधन और साध्य को एकाकार कर सकता है । यह ऐसा दान है, जिसे देकर भी हम पाते हैं । यह ऐसा स्वार्थ है, जिसे पास रखकर भी हम देते हैं पर इस दोहरी स्थिति के कारण ही साहित्यकार के जीवन के साधन और साध्य कुछ रहस्यमय हो जाते हैं। इस स्थिति को समझने के लिए ऐसे सस्कृत समाज की आवश्यकता रहती है, जो अपने दिये मूल्य को अधिक न समझे और उससे प्राप्त सृजन को न्यून न माने ।

साहित्य की दृष्टि से हमारा देश इतना अधिक समृद्ध है कि उसकी मूल्यांकन-

शक्ति के विषय मे सदेह कठिन हो जाता है। जीवन के विविध क्षेत्रो मे विशेष उपलब्धियाँ सुलभ करने वालो की जीवन-यात्रा के साधन उसने इस सहज भाव से दिये कि उसके मन मे अहकार का कोई सस्कार नही बन सका। व्यक्ति के विशिष्ट सृजन को उसने इतना महत्त्वपूर्ण और महार्घ माना कि स्रष्टा को याचक का दैन्य कभी स्पर्श नहीं कर सका।

इस स्थिति ने विषम युगो मे समस्याए भी उत्पन्न की, पर साधारणत. समाज और साहित्यकार मे खरीदने और बेचने वालो की आपाधापी के लिए अवकाश कम रहा। आज भी लोक-जीवन और उसके साहित्यकारों की ऐसी स्थिति है, जिसमे एक अहकार से शून्य है और दूसरा दैन्य से अपरिचित।

जिन युगो मे हमारा सांस्कृतिक ह्रास अपनी चरम स्थिति मे था, उनमे भी 'माग के खैबो मसीद को सोइबो' कहने वाले साहित्य-साधक समाज के गुरु और शास्ता रहे।

उनकी जीवन-यात्रा की व्यवस्था करने वाले लोक के अवचेतन मन मे भी कभी यह प्रश्न नही उठा कि जीवन-यात्रा के लिए हमारे आश्रित होकर भी ये हमारे शास्ता होने का अहकार क्यो करते हैं। जिन साहित्यकारो ने लोक की अवज्ञा कर व्यक्ति का आश्रय लिया, उनकी स्थिति की मर्यादा भी इसी परपरागत सस्कार ने बाधी। जिस प्रकार घर के छोटे झरोखे से थोडा प्रकाश पाने वाला भी प्रकाश की असीमता की अवज्ञा नही कर सकता, उसी प्रकार सकीर्ण सीमा म निर्मित साहित्य ने भी विराट् मानवता म फैले साहित्य से अपने सबध का परिचय देकर अपने रचयिता को क्षुद्र होने से बचाया। नदी तट बनाती है, पर तटो के साथ तो वह समुद्र मे स्थिति नही रख सकती और यही मुक्ति उसके बधन को क्षुद्र नही होने देती।

आज हम विशेष युग मे हैं और सस्कार के नाम पर हमे परपरा के परिणाम से सघर्ष करना पड रहा है। जुआ उतारकर फेंका जा सकता है, पर जुआ वहन करने के परिणाम या प्रमाण जो गर्दन के क्षत या काठिन्य मे अकित हो जाते हैं, उन्हे काटकर फेंक देना सभव नही रहता। उस कठोर या आहत स्थान का स्वाभाविक स्थिति मे लाने के लिए समय और उपचार दोनो अपेक्षित रहते हैं।

काठिन्य, भार के अति सह्य होने का प्रमाण या स्वाभाविक सवेदनशीलता के न्यून होने की सूचना है, जिसकी उपस्थिति मे भार उतारना व्यर्थ जान पड़ता है। क्षत, सवेदनशीलता से अस्वाभाविक वृद्धि है, जिसके कारण स्वाभाविक सहनशक्ति नष्ट होकर ततुओ को अक्षय बना देती है।

हमारे जीवन की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। कही हम रूढियो के अबार लादकर भी भार का अनुभव नही करते और कही हमारे लिए सस्कार

का हल्का स्पर्श तक असह्य हो जाता है। दोनों ही स्थितिया अस्वाभाविक है।

हमारी स्वतत्रता के कई वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उसे हम अपने राष्ट्र-जीवन का तुतला उपक्रम मात्र नही कह सकते। किसी अन्य अतीत युग मे कहना सभव था, परतु आज जब समय बैलगाडी, रथ छोडकर वायुयान पर उडने लगा है, एक केंद्र मे मुखर होकर ससार भर से बोलने लगा है, एक क्षेत्र को छूकर इतिहास के असख्य पृष्ठ लिखने लगा है, तब हमे अपनी समय-सबधी धारणाए भी बदलनी चाहिए।

धरती, समुद्र, पर्वत, नक्षत्र तक जब परिवर्तन के अक बनते जा रहे है, तब 'उत्पस्यते मम कोपि समानधर्मा' कहकर अनत प्रतीक्षा की समस्या नही रह गई है। लक्ष्य की दिशा मे उठाया गया पग और लक्ष्य प्राप्ति आज इतने निकट और एक-दूसरे के पर्याय हैं कि मार्ग खोजने, भटकने, पाने की अनेक स्थितियो का एक हो जाना स्वाभाविक है।

इस भूमिका म जब हम अपने साहित्य और उसके स्रष्टाओ को रखकर देखते हैं, तब साहित्य के भविष्य के लिए चिता स्वाभाविक हो जाती है। कुछ प्रतिष्ठित वयोवृद्ध, अत सरकारी पदो के लिए अनुपयुक्त तथा कुछ अति साधारण, अत सरकारी कार्यों के लिए अयोग्य लेखको को छोडकर प्राय सभी लेखक सरकारी विभाग मे आश्रय पा गए है। उनके जीवन-यापन की समस्या अवश्य ही सुलझ गई है, परतु सुलझाने की विधि ने इस देश की वाणी अवतरण के मार्ग मे एक सबसे बडी समस्या उत्पन्न कर दी है।

क्या साहित्य केवल व्यक्तिगत रुचि हावी मात्र है? क्या उसे विशेष प्रतिभा द्वारा सपादित और स्थायी महत्त्व का सामाजिक कर्म मानकर अतीत युगो ने भूल की है? क्या अन्य युगो और देशो की उक्त भूल का परिमार्जन करने के लिए ही हमारे यहा ऐसी व्यवस्था हो रही है? क्या इस व्यवस्था से साहित्य का लक्ष्य, राजनीतिक लक्ष्य से एकाकार हो सकेगा और क्या इस ऐक्य से साहित्य के मूल्यो की रक्षा और वृद्धि हो सकेगी?—ये सभी प्रश्न सामयिक हैं और हमारे चिंतन से कोई-न कोई समाधान चाहते हैं।

विश्वासी वुद्धि और विवेकी हृदय अपने आप मे सब शकाओ का समाधान है। यदि आज हम इन दो विशेषताओ का सुलभ करने की साधना मे लग जायें तो अन्य समस्याए स्वय सुलझ जायेंगी।

साहित्य, संस्कृति और शासन[1]

राज्यपाल महोदय के सबोधन मे औपचारिक रूप से ही कुछ पचवर्षीय योजनाओ का सकेत मिलता है। वैसे तो जब एक एक दिन मे अनेक देशो के इतिहास बदल रहे हैं, जीवन के मान मिट-बन रहे हैं तब पाच वर्ष की लबी अवधि का औचित्य भी विचारणीय है, पर इस लबी अवधि की अपेक्षा रखने वाली योजनाओ मे जिसका अभाव मुखर है वह साहित्य, कला, सस्कृति और शिक्षा सबधी योजना है। सबोधन मे मुझे ऐसा कोई सकेत नही मिलता जिससे जाना जा सके कि इस प्रदेश की सरकार के सम्मुख साहित्य, कला, सस्कृति जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो के सबध मे कोई निश्चित योजना भी है। सरकार की अन्य योजनाए पूर्ण है, अपूर्ण हैं अथवा त्रुटिपूर्ण हैं, इस सबध मे मतभेद हो सकता है पर जिस अत्यत आवश्यक कार्यक्रम का अभाव है उसके सबध मे मतभेद का स्थान नहीं। प्रत्युत किसी भी निर्माणोन्मुख प्रदेश मे यह अभाव चिता का कारण बन सकता है।

उत्तरप्रदेश हमारे राष्ट्र का हृदय है, जिससे देश की दूर-दूर तक फैली शिराओ मे रस का सचार होता है। हिमालय से कन्याकुमारी तक, पूर्व से पश्चिमीय तटो तक जो सस्कृति व्याप्त है वह गगा, यमुना और सरस्वती के तटो पर पली और विकसित हुई है। सामजस्य और समन्वय का जो स्वर हमारे साहित्य और दर्शन मे ध्वनित-प्रतिध्वनित होता आ रहा है उसमे इस भू-भाग के साधक सरस्वती-पुत्रो के हृदय और बुद्धि का कितना योग है यह कहने की आवश्यकता नही है।

हम उसी धरातल पर खडे होकर अपनी अनेक समस्या सुलझा सकते हैं जिस पर तुलसीदास और कबीर, सूर और रैदास साथ खडे हो सके थे और जो साहित्य कला-साधको तथा चितको की भूमि है।

अपने स्पर्श को मूल्यवान बना देने वाले पारस जैसे उत्तराधिकार को पाकर भी यदि हमारे पास उसके उपयोग के लिए कोई योजना नही हो सकती है तो

1. उत्तरप्रदेश विधान परिषद् में भाषण।

हमारे समकालीन चाहे भ्रम मे पड जायें पर आने वाली पीढिया हमे क्षमा न करेंगी।

आज हिंदी जब राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त हो चुकी है तब हमारा कर्तव्य और भी गुरुतर और गभीर हो जाता है। हम दीर्घकालीन दासता की गहरी तमिस्रा पार करके जागरण के द्वार पर पहुचे हैं। हमारे सामने अभी धुधला क्षितिज है। उसपर अब तक भविष्य का ऐसा सुनहला चित्र नही आका जा सका है जिसके अनुरूप हमे जीवन का निर्माण करना है।

हमारी परतत्रता हमारी विकासशील परपराओ को नष्ट करने मे सहायता देती रही है जैसा कि स्वाभाविक भी था। कोई भी विजेता किसी विजित जाति पर राजनीतिक विजय प्राप्त करके सतुष्ट नही होता। वह तो सास्कृतिक विजय भी चाहता है और इसकी प्राप्ति के लिए वह विजित के हृदय और बुद्धि पर अधिकार पाने का प्रयत्न करता रहता है। हमारे विदेशी शासको ने इस दिशा मे जो सफलता पाई है उसका प्रमाण हमे जीवन मे पग-पग पर मिल सकेगा।

आज हम राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्र हैं पर हमारी मानसिक दासता अब तक दूर नही हो सकी है, न हमारी बुद्धि जडता से मुक्त हो सकी है और न हमारी सकीर्णता से त्राण पा सकी है। परिणामत हमारे सामने नव-निर्माण की कोई रूप-रेखा नहीं है।

हमारी राजनीति दलो मे गतिशील है। हमारा धर्म रूढियो में अचल है और हमारा समाज विषमता मे मूर्च्छित है।

हमे इस अधकार क पार गतव्य खोज लेना है, अन्यथा हमारी गति एक विषम वृत्त मे होती रहेगी जैसी कोल्हू के बैल की होती है जो निरतर चलते रहने पर भी कही नही पहुचता।

नवीन जीवन के स्वप्न अधिकारियो के आदेश से नही बनेंगे और न उन्हे सत्य करने के सकल्प फाइलो मे बद मिलगे। स्वप्न और आदर्श, प्रेरणा और सकल्प तो इस देश के साहित्कार, कलाकार, विद्वान और चिंतक ही दे सकते हैं जो आज सरकारी योजनाओ मे उपेक्षित हैं। वे ही नवीन राष्ट्र के अलिखित विधान के निर्माता हैं।

मुझसे प्रश्न किया जा सकता है कि जब राष्ट्र के सामने खाद्य और वस्त्र जैसी आवश्यक समस्याए हैं तब साहित्य, कला, सस्कृति आदि के प्रश्न क्यो उठाए जा रहे हैं ? उनकी ओर ध्यान देने का हमे अवकाश ही कहा है ?

उत्तर में, मैं निवेदन करूगी कि जीवन की प्रकृति सर्वांगीण होती है। हम यह नही कह सकते कि जब हम सास ले रहे हैं तब विचार नही कर सकेंगे, जब विचार कर रहे हैं तब देखेंगे नही और जब देख रहे हैं तब चल नही सकेंगे, क्योंकि देखने, सुनने, सोचने, विचारने, चलने के कार्य साथ होकर ही हमे सार्थक

'विस्तार। दूसरे शब्दों मे यहा मनुष्य की बुद्धि और हृदय खराद पर चढते हैं। और तब नये रूप से समाज के सम्मुख आते हैं। किसी सुदर स्वप्न, आदर्श या अनुमति को दूसरे को देना सहज नही होता। इस आदान-प्रदान मे देनेवाले और पानेवाले मे समान रूप से पात्रता होनी चाहिए जो ज्ञान देनेवाले और पाने वाले दोनो को धन्य कर देता है। उसे देने और पाने की परिस्थिति और होती है और वातावरण और होता है। हमारी शिक्षा चाहे वह प्राथमिक हो चाहे उच्च, उसने मनुष्य की सभावनाओ की ओर कभी ध्यान नही दिया। वह तो केवल नौकरी दिलाने के लिए प्रमाण-पत्र देती है और उसे भी नहीं दिला पाती। हमारा विद्यार्थी वर्ग जो घोर अर्थ-सकट और सामाजिक कुठा मे पलता है, शिक्षा की समाप्ति पर अपने जीवन की समाप्ति के निकट पहुच जाता है। इस प्रकार की निराशा और आत्मघाती प्रवृत्तियो से घिरी नवीन पीढी से देश को क्या नया निर्माण मिल सकेगा, यह विचारणीय है।

प्रेरणा, स्फूर्ति और ज्ञान की दृष्टि से हमारी शिक्षा मे ऐसा क्रातिकारी परिवर्तन चाहिए जो नवीन पीढी को चारित्रिक दृढता और सास्कृतिक दृष्टि देकर उन्हें इस महान देश के गौरव के अनुरूप सशक्त और उदार मनुष्य बना सके।

जीवन की वर्तमान विषमता को दूर करने का जो रसायन हमारे साहित्य मे है उसका शिक्षा मे उपयोग न करना भूल होगी। इतिहास बताता है कि जब-जब एक देश दूसरे देश मे शक्ति के घोष मे बोलता है तब-तब एक दास और दूसरा स्वामी हो जाता है। एक विजित और दूसरा विजेता बन जाता है। परतु जब-जब एक देश दूसरे से साहित्य के स्वर मे बोलता है तब-तब सात समुद्र का अतर पार कर, उन्नत पर्वतो को लाघकर उनके हृदय एक-दूसरे के निकट आ जाते है। एक दूसरे के सुख-दुःखो से तादात्म्य कर लेते हैं।

साहित्य की भूमि पर कालिदास और तुलसीदास जितने हमारे हैं उतने सारे विश्व के हैं और शेक्सपियर, गोर्की, टालस्टाय आदि जितने अपने देश के हैं उतने ही हमारे है। हम धरती पर दीवारें खडी करके, उसे बाट सकते है, पर उन दीवारो की ऊचाई से आकाश खड-खड मे नही बट सकता। हम तोल-कर बादलो का बटवारा नही कर सकते, नापकर किरणो को विभाजित नही कर सकते और गिनकर तारो को नही ले-दे सकते। वे सबके होने के लिए ही प्रत्येक के है। इसी प्रकार की एकता साहित्य मे मिलती है। यदि आज के विषम जीवन मे हम नयी पीढी की एकता बनाए रखना चाहते हैं तो हमे शिक्षा में साहित्य और सस्कृति को ऐसा महत्वपूर्ण स्थान देना होगा जिससे विद्यार्थी को मानव-एकता और विश्वबधुत्व का सकेत प्राप्त हो सके और वह अधिक पूर्ण मनुष्य बन सके। इसके साथ-साथ हमे अपनी नवीन पीढी के विधाता साहित्य-कारो तथा शिक्षकों को भी उपेक्षणीय स्थिति से मुक्त करना होगा।

नवीन दशक में महिलाओं का स्थान[1]

मुझे 'नवीन दशक मे भारत मे महिलाओ का स्थान' शीर्षक विषय पर अपने विचार व्यक्त करने हैं। विषय एक ओर नवीन दशक मे समय की सीमा बाधता है और दूसरी ओर भारतीय समाज मे नारी-स्थिति की ओर सकेत कर विषय को सुदूर अतीत तक मुक्त कर देता है। इस प्रकार हमारे लिए वर्तमान की समस्याए ही नही, अतीत से प्राप्त अपने मूल्यात्मक दाय भाग का परीक्षण भी अनिवार्य हो उठता है।

इस सबध मे भारतीय महिला वर्ग के दो स्पष्ट मत हैं जिनपर प्रथमत दृष्टि-पात कर लेना आवश्यक है। आवश्यक तरुणी वर्ग का अभिमत है कि जब विज्ञान ने विश्व के भूखडो की दूरिया समाप्त कर दी हैं और सभी देश एक-दूसरे के निकट आ गये हैं तब भारत की नारी विश्व नारी से भिन्न नही मानी जा सकती। अत एक सकीर्ण राष्ट्रीयता मे बाधकर उनकी सामाजिक स्थिति के सबध मे निर्णय करना उनके प्रति अन्याय है। सक्षेप मे भारत की आधुनिक तरुणी के विचारो का यही निष्कर्ष है कि भारतीय संस्कृति के घेरे मे उन्हें रख-कर समाज आधुनिक युग की चुनौती स्वीकार नही कर सकता।

दूसरा मत उस मध्यमार्गी महिला वर्ग का है जो भारतीय संस्कृति मे उपलब्ध मूल्यो को आधुनिक समाज की आधारशिला बनाने मे विश्वास रखता है। पर इस वर्ग की धाराए इतनी बद्धमूल हैं कि वह आधुनिक और अतीत मे सर्वथा भिन्न परिस्थितियों पर किसी अन्य दृष्टि से विचार करना भी अस्वीकार कर देता है।

तीसरा और बहुसख्यक महिला वर्ग अभी तक इतना अप्रबुद्ध है कि उसमे लोक के इधर-उधर देखने की भी अपेक्षा कम की जाती है। विचारणीय दोनो मतो मे आशिक सत्य है, किंतु पूर्ण सत्य के लिए दोनो का समन्वयात्मक सयोजन ही आवश्यक रहेगा।

१ आकाशवाणी द्वारा प्रसारित 'डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद स्मारक व्याख्यानमाला' के अंतर्गत भाषण।

यह सत्य है कि मानव जाति की वैज्ञानिक प्रगति ने विश्व के विभिन्न भूखडो की दूरी कम करके उनमे सहज सामीप्य की स्थिति उत्पन्न कर दी है, परतु यह सत्य नही है कि इस निकटता ने विश्व को एक कुटुब या परिवार बना दिया है, अथवा मनुष्य की ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, स्वार्थ आदि की ध्वसमयी प्रवृत्तिया समाप्त कर दी है।

प्रत्युत इस सहज सामीप्य ने मनुष्य को हानि पहुचाने की सभावनाओ को बढाकर मानव-समाज मे एक तनाव की स्थिति उत्पन्न कर दी है, जिसके कारण प्रत्येक छोटे-बडे देश का मानसिक सतुलन नष्ट हो गया है। कुछ सघर्ष की स्थिति में हैं और जो नही हैं वे सघर्ष की भावी आशका के कारण उनके लिए आवश्यक तैयारी मे सलग्न हैं।

जब एक देश दूसरे देश को हानि पहुचाना चाहता है तब दूसरे को अपनी राष्ट्रीयता का ही आश्रय लेना पडता है। और सत्य तो यह है कि जिस देश के नागरिक अपनी धरती से जितना अधिक रागात्मक लगाव अनुभव करते है वह देश सघर्ष मे उतना ही अधिक अपराजेय प्रमाणित होता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग ने प्रत्येक छोटे-बडे देश को राष्ट्रीयता की दृष्टि से अधिक प्रबुद्ध किया है, यह सत्य उपेक्षा के योग्य नही है। ऐसी स्थिति मे भारत के तरुण वर्ग का विश्व नागरिकता का स्वप्न केवल सुदर स्वप्न ही रह सकता है।

दूसरा प्राचीनतावादी मत भी अशत सत्य है। हमारे सास्कृतिक मूल्य महत्त्वपूर्ण हैं। परतु वर्तमान युग की समस्याओ से उनकी सगति न बैठाने पर वे हमारी प्रगति के पखो मे बधे पत्थर हो जाएगे। किसी देश की सस्कृति से उस देश के समाज का वही सबध है जो धरती और बीज का होता है। बीज का वृक्ष होना ही नही उनके पल्लवो की हरीतिमा, फूलो का रग और फल का रसमाधुर्य उसकी मिट्टी के स्वभाव पर निर्भर है। जीवन के अत और बाह्य विकास क्रम मे जो मूल्य और जीवन-पद्धति बनती चलती है, वही देश विशेष या जाति विशेष की सस्कृति है। विकास की यह धारा एक ओर देश काल से और दूसरी ओर शाश्वत जीवन-मूल्यो से सीमित रहने के कारण प्रत्येक युग मे नवीन प्राचीन का सगम उपस्थित करती है। जिस प्रकार नदी को, तट के सीमित अश से देखने पर भी हमे उसके अलक्ष्य उद्गम और गतव्य का बोध होता रहता है। उसी प्रकार अपने युग के कालखड में देखकर भी हमें अपनी सस्कृति के आदिम स्रोत तथा लक्ष्य का बोध होता रहता है। इस तारतम्य के टूट जाने पर संस्कृतिया तथा उनमे स्पदित जीवन नष्ट हो जाते हैं, उनका प्रमाण हमे इतिहास दे सकेगा।

सस्कृति के समान समाज मे भी कुछ सामयिक तथा कुछ शाश्वत तत्त्व हैं। मानव-समाज केवल भीड या पशुओ के समूह का पर्याय नही है। समाना-

अर्जित इति समाज —मे उसके जिस रूप का संकेत है उसमे अनेक वर्तव्यो, विभिन्न रागात्मकता संबंधो और विविध विचारो की सामजस्यमूलक स्थिति रहती है। ये सभी वर्तव्य तथा संबध मूल्यात्मक हैं, जो दीर्घ काल के साहचर्य, सवेग और विचारों से निर्मित हो सके हैं।

मनुष्य का सामाजिक साहचर्य द्वारा जैसा विकास हुआ है वह अनेक दृष्टियो से जटिल, पर महत्त्वपूर्ण है। वैसे पशु-पक्षियो मे भी यूथचारी होने या समूह मे रहने की प्रवृत्ति है, किंतु उस प्रवृत्ति के मूल मे उनकी सहज चेतना मात्र है जो उन्हें अपनी रक्षा के लिए बाध रखती है, एक-दूसरे की मगल कामना से नही।

वस्तुत बौद्धिक प्राणी होने के नाते मानव समाज ने ज्ञान-विज्ञान, नीति, धर्म, भाषा, कला, साहित्य आदि का ऐसा विकास किया है, जो उनके सामयिक जीवन मे ही नही, अनेक भावी पीढियो के जीवन तक प्रसार पाता रहा है।

भोजन आच्छादन-सग्रह की अपेक्षा ज्ञान-सग्रह के लिए मनुष्य को अधिक घनिष्ठ साहचर्य की ही नही, अधिक समय की भी आवश्यकता रहती है। समाज-सरचना और वशवृद्धि की दृष्टि से सबसे घनिष्ठ साहचर्य पुरुष और स्त्री का ही कहा जा सकता है।

अपने सृजन और प्राकृतिक विशेषताओ के कारण नारी जीवन के कोमल, रहस्य और विकासशील पक्ष का पर्याय है, अत किसी भी सस्कृति और समाज के विकास का मापदड उसमें नारी की स्थिति ही मानी जाती है। इस स्थिति को मूलतः समझने के लिए मानव के आदिम विकास पर एक विहगम दृष्टि डालना उचित होगा।

आदिम विकास की स्थिति मे हम प्राय. सभी मानव-समूहो मे आश्चर्यजनक समानता मिलती है। विवाह सस्था की प्रतिष्ठा के पूर्व अधिकाश भूमिखडो का निवासी मानव-समूह मातृसत्ता का ही रहा होगा और सतान का परिचय माता के नाम से ही दिया जाता होगा। इसके अतिरिक्त सृजन की रहस्यमयता के कारण मातृत्व के सबध में आश्चर्यजनक शक्तियो और रहस्य की कल्पना स्वाभाविक रही होगी। मिस्र, फारस, यूनान, मेसोपोटामिया आदि देशो की प्राचीन सस्कृतियो मे मातृशक्ति की पूजा ने विविध रूप ग्रहण किए हैं। मिस्रियो की पूजा देवी आइसस, मेसोपोटामिया की ईस्थर आदि की पूजा के मूल में आदिम आतक और आश्चर्य की भावना ही गतिशील रही है। सिंधु घाटी सभ्यता में प्राप्य आयुधयुक्त मातृदेवी मूर्तियो के सबध मे भी यही सत्य है।

वेदकालीन भारत मे हमे जिस प्राचीनतम समाज का परिचय मिलता है वह किसी भी मापदड से आदिम समाज नही है और उसमे नारी की स्थिति के मूल मे न आतक की भावना है और न हीनता ही प्रधान।

एक ओर प्राकृतिक सृजनशक्तियों का उन्होंने ऐसा उदात्त मानवीकरण किया है जो जीवन के विकास का प्रतीक है और दूसरी ओर सामाजिक सदस्य के रूप मे सब प्रकार के अधिकार-प्राप्त नारी को प्रतिष्ठित किया है। अदिति, जिसका अर्थ बधनहीन है, आकाश का प्रतीक तथा मानवो की मुक्तिदात्री मानी गई है। इसी प्रकार सरस्वती ज्ञान का, इडा मेधा का तथा पृथ्वी मातृशक्ति का प्रतीक है। नारी-सौंदर्य का जैसा उदात्तीकरण उषस् सूक्तो मे मिलता है वैसा विश्व की किसी अन्य सस्कृति मे खोज लेना कठिन होगा। इसम किसी की भी रूप-कल्पना ध्वस के लिए नही है।

जहा तक तत्कालीन नारी की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, उसके कर्तव्य तथा अधिकार पुरुष के अधिकारो तथा कर्तव्यो से न न्यून हैं, न हीन। जिन्हें समाज अधिकारो से हीन रखना चाहता है, उन्हें शिक्षा के क्षेत्र मे प्रवेश नही देता, किंतु तत्कालीन शिक्षा-क्षेत्र मे पुरुष के समकक्ष ही नारी का स्थान है।

विद्याध्ययन की दृष्टि से स्त्रियो के दो वर्ग थे—एक वे, जो ब्रह्मचारिणी रहकर ब्रह्मविद्या मे अधिकाधिक योग्यता प्राप्त करती थी और दूसरी वे, जो एक सीमा तक शिक्षा के उपरात गृहस्थाश्रम म प्रविष्ट होकर गृहिणी का कर्तव्य सभालती थी। ब्रह्मवादिनी महिलाओ मे अनेक मत्रद्रष्टा ऋषिकाए हैं और अनेक दार्शनिक परिषदो मे ब्रह्म-विषयक तथा अन्य तत्त्वज्ञान-सबधी विचार-विमर्शों मे भाग लेने वाली विदुषिया।

शिकागो के सर्व-धर्म सम्मेलन मे सब धर्मों की प्रार्थनाओ मे जिसे विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया था, वह प्रार्थना ब्रह्मवादिनी मे मैत्रेय की है

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृत गमय।

विद्वत्-सभा मे याज्ञवल्क्य को चकित कर देने वाली गार्गी के नाम से हम सब परिचित हैं। घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, विश्ववारा, श्रद्धा, कामायनी आदि मत्रद्रष्टाओ मे अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् विशेष स्थान रखती है, क्योकि उसके देवी-सूक्त मे आगामी युगो की शक्ति-उपासना के अकुर मिलते हैं.

अह राष्ट्रीय सगमनी वसूना तथा अह रुद्राय धनुरातनोमि आदि ऋचाओ मे वह कहती है—मैं राष्ट्र को बाधनेवाली शक्ति हू। मैं ही उसे ऐश्वर्यों से सपन्न करती हू। मैं ही ब्रह्मद्वेषियो के सहार के लिए रुद्र का धनुप चढाती हू। मैं ही आकाश और पृथ्वी मे व्याप्त होकर मनुष्य के लिए सग्राम करती हू।

स्पष्ट ही वाग्देवी के इस रूप मे भावी महासरस्वती, महालक्ष्मी तथा महा-चडी की विविध शक्तियो का समाहार है।

आश्वलायन के गृह्यसूत्रो की समावर्तन या दीक्षात सस्कार की विधि से

ज्ञात होता है कि सहशिक्षा सामान्य तथा अध्ययन-विधि समान थी । समावर्तन के उपरात स्नातिकाए अध्यापन भी करती थी । यह क्रम ७-८वी शती तक चलता रहा । शकराचार्य से शास्त्रार्थ मे पराजित मडन मिश्र की पत्नी भारती ने श्रृगेरी और द्वारका के मठो मे अध्यापन किया और उनका शिष्य सप्रदाय भारती उपनाम से जाना जाता है ।

शिक्षा के समान ही समाज की दूसरी महत्त्वपूर्ण सस्था विवाह है जो विभिन्न प्रकृति तथा कर्म वाले दो व्यक्तियो को स्नेह तथा नैतिक बधन मे आबद्ध करती है । भारत मे उसे पवित्र और धार्मिक अनुष्ठान माना गया है । तत्कालीन समाज म पति पत्नी मे से किसी के श्रेष्ठ या हीन होने का प्रमाण नही मिलता । सभवत इसका कारण वैदिक विचारपद्धति है । ब्रह्मवैवर्त पुराण, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि पुरुष और नारी की उत्पत्ति के सबध मे जो विचार उपलब्ध हैं उनका निष्कर्ष है कि एक और अद्वितीय ब्रह्म म दो होने की इच्छा सपन्न हुई और उसने स्वय को दो मे विभाजित कर लिया । उसके दक्षिण अश की सज्ञा पुरुष हुई, वाम की नारी हुई । यह धारणा अन्य धर्मों मे वर्णित आदि-मानव और आदिमानवी की जन्मकथा से भिन्न है ।

एक ही तत्त्व दो मे विभाजित होकर भी तत्त्वत एक ही रहता है। भिन्न सरोवरो मे जल की जलीयता भिन्न नही हो जाती।

साख्य दर्शन मे पुरुष और प्रकृति का समान महत्त्व, वेदात की भिन्नता मे, एकात्मता आदि मे यही धारणा विस्तार पा रही है । शिव का अर्द्ध-नारीश्वर रूप इसी दार्शनिक विचार की भावात्मक परिणति है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस धारणा को मानव विकास की दो भिन्न प्रवृत्तियो का सगम कहा जा सकता है । इन सब तथ्यो से इतना तो प्रमाणित हो जाता है कि जिस समय कुछ सस्कृतियो मे स्त्री मे आत्मा का होना भी स्वीकार नही किया जाता था और कुछ मे उसे पुरुष से हीन माना जाता था उस समय भारत के समाज मे स्त्री आध्यात्मिक तथा भौतिक दृष्टियो से पुरुष के समकक्ष थी ।

वैदिक समाज मे वधू अपने पतिगृह की सम्राज्ञी तथा पति के सभी कार्यों मे सहयोगिनी रहती थी । उसके शिक्षित, वयस्क और स्वयवरा होने का प्रमाण विवाह के अवसर पर की गई प्रतिज्ञाओ मे मिलता है ।

'सम्राज्ञी श्वश्रुपे भव, सम्राज्ञी श्वश्रुपा भव' आदि विवाह-मत्रो मे वधू के जिन अधिकारो का कथन है वे गृह ही नही, सबधियो म भी उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति ज्ञापित करते हैं।

'समजन्त विश्वदेवा समापो हृदयानि नौ' आदि मत्रो मे वर-वधू के हृदयो म एकता की कामना भी है और जीवनपर्यंत साथ रहने की प्रतिज्ञा भी । किंतु सहमरण शैली की कोई रीति न विचार मे ही मिलती है और न आचार मे ।

आपस्तंब धर्मसूत्र के अनुसार पत्नी धर्मकार्यों में पति की सहधर्मिणी तथा पारिवारिक संपत्ति में सह-अधिकारिणी है। पति की अनुपस्थिति में पत्नी संपत्ति में से दान का अधिकार भी रखती है।

शासन की व्यवस्था सभा, समिति और विदथ द्वारा होती थी, जिसमें राज-नीतिक, न्याय, यज्ञकर्म, प्राचीन आख्यान आदि विषयों पर विचार-विनिमय और वक्तृताएं होती रहती थीं। इनमें स्त्रियों का भाषण देना स्वाभाविक था, उसका परिचय हमें विवाह के उस मंत्र से प्राप्त होता है जिसमें वर वधू को संबोधित कर सकता है 'वदिनी त्वं आवदासि' (साधिकार तुम विदथ में भाषण करोगी)। अध्यात्म-विषयक सम्मेलनों के वाद-विवाद में भाग लेनेवाली गार्गी, सुलभा आदि तत्त्वान्वेषिकाओं के नाम भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

गान, नृत्य आदि कलाओं तथा कातने-बुनने आदि शिल्पों के शिक्षण के साथ-साथ उन्हें अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा भी दी जाती थी। विश्पला का युद्ध में जाना या मुद्गलानी का शत्रुओं से युद्ध करके सौ गौवें छीन लाना आदि प्रमाणित करते हैं कि उनका कर्मक्षेत्र गृह से युद्धभूमि तक फैला हुआ था।

सारांश में भारतीय नारी की अतीत पृष्ठभूमि गौरवपूर्ण होने के साथ-साथ मानव विकास का एक उज्ज्वल आयाम भी है।

प्रकृति के जिस नियम से विकास के चरम बिंदु से ही ह्रास की यात्रा आरंभ हो जाती है, उसी से सभ्यता के तारुण्य के प्रतीक वैदिक समाज में परिवर्तन का निम्नगामी क्रम आरंभ हुआ होगा। निरंतर युद्ध भी किसी देश को लक्ष्यत: बदलकर समाज को विशृंखलित कर देता है और उसमें विश्रामजनित स्थिरता भी ला देता है।

दाशराज्ञ युद्ध तथा पणियों या दस्युओं से निरंतर संघर्ष ने भी तत्कालीन समाज पर प्रतिकूल प्रभाव डाला होगा, यह अनुमान स्वाभाविक है।

युद्ध में संतानवती माता सामान्यतः रक्षणीय हो जाती है, अतः उनके सह-योग के अनेक द्वार और दिशा रुद्ध हो जाते हैं। यदि यह स्थिति दीर्घकाल तक रहे तो उस वर्ग के कर्तव्य और अधिकारों के विषय में भ्रांति या विस्मृति असंभव नहीं है।

प्रथम ज्ञान की उस परंपरा में जो नारी को परिग्रह का कारण, मुक्ति में बाधक तथा माया मानती थी और दूसरे युद्धों ने समाज में नारी की स्थिति को इतना प्रभावित किया कि वह सहयोगिनी से पुरुष की व्यक्तिगत संपत्ति मानी जाने लगी।

महाभारत और रामायण का समाज इसका ज्वलंत प्रमाण है। साध्वी पत्नी की अग्नि-परीक्षा या निर्वासन, पत्नी को द्यूत कर्म में धन-संपत्ति के समान दांव पर लगाकर हार जाना आदि कार्य स्वस्थ समाज के सूचक नहीं कहे जा सकते।

दाशराज्ञ युद्ध के समान ही महाभारत के युद्ध ने राजशक्ति और उससे आरक्षित समाज को छिन्न भिन्न कर दिया था। बौद्धकाल तक यह स्थिति इतनी चिंतनीय हो उठी थी कि भगवान बुद्ध को नारियों के उद्धार के लिए उन्हें भिक्षुणी बनने की स्वीकृति देनी पड़ी। इन भिक्षुणियों में संपन्न, विपन्न, सवर्ण, अस्पृश्य सभी वर्गों की नारियां हैं जिनमें से अनेक धर्म-प्रचारार्थ भारत से बाहर भी गईं और अनेक साधना तथा साहित्य-रचना में संलग्न रहीं। थेरी गाथाएं उन भिक्षुणियों की विद्वत्ता, संवेदनशीलता आदि गुणों का अतर्क्य प्रमाण हैं।

वस्तुतः स्मृति युग तक पहुंचते-पहुंचते समाज की संस्कृति तथा विकृति ऐसी संधि तक पहुंच गई कि पूर्व आदर्श तथा तत्कालीन विषम यथार्थ का एक ही बिंदु पर मिलना अनिवार्य हो गया। इसी से मनुस्मृति में एक ही सांस में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमंते तत्र देवता' में एक स्वर बोलता है और 'न स्त्री स्वातंत्र्य-मर्हति' में दूसरा। इसके कारण हैं। आदर्श मानव-समाज के उन मूल्यों द्वारा निर्मित होता है जो भावात्मक होने के कारण उसके मनोजगत् में दीर्घकाल तक सुरक्षित रहते हैं और यथार्थ तात्कालिक समस्याओं के बौद्धिक निदान का परिणाम होने के कारण आदर्श से विच्छिन्न हो जाता है। किसी जाति की बाह्य परिस्थितियां जब उसके जीवन को श्रीहत खंडहर बना देती हैं, तब भी उसके आदर्शों की प्रतिमाएं उज्ज्वल और अखंडित रह सकती हैं। इसी कारण आदर्श युगों के आंधी-तूफानों को पार कर कहीं धर्म, कहीं परंपरा और कहीं साहित्य में सुरक्षित चले आते हैं।

स्मृतिग्रंथों में मानवधर्म-शास्त्र या मनुस्मृति सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था-संबंधी ऐसे विधि-निषेध हैं, जिनको उत्तरवैदिक समाज से लेकर अब तक प्रतिष्ठा रही है। संभवतः यह ग्रंथ ईसापूर्व तीसरी या चौथी शती में लिखा गया और इसके कुछ अंशों के समय-समय पर जोड़े जाने की संभावना भी है। इसने नारी के सभी अधिकारों को संकीर्ण किया, इसमें संदेह नहीं। पर महाजनपदों, गणराज्यों आदि के विकास में भारतीय नारी यथापूर्व अपना सहयोग देती रही और यह सहयोग चौथी ईस्वी शती तक राज्य के संकट अथवा युद्धकाल में सुलभ रहा। शातवाहन वंश की नायनिका, वाकाटक वंश की प्रभावती, कश्मीर की दिद्दा, चालुक्य वंश की विजय भट्टारिका आदि के जीवन और कार्य इसके प्रमाण हैं।

थेरी गाथा की साधिका कवयित्रियों के समान ही संस्कृत में विज्जका, मारुला, इंदुलेखा आदि ने भी सुंदर काव्यरचना की।

संघर्षरत राज्यों में विभाजित, आक्रमणों के कारण व्यस्त और श्रांत मध्य-युग में सामाजिक दृष्टि से नारी की स्थिति ही नहीं हुई, किंतु अपने शौर्य तथा आत्मदान से उसने नैतिक स्तर पर एक अद्भुत वर्चस्व प्राप्त कर लिया।

मध्य-युग के महत्त्वपूर्ण अवदानों में, चैतन्य का आविर्भाव, सगुण भक्तों द्वारा समाज में शक्ति, शील और सौंदर्य की प्रतिष्ठा, निर्गुणोपासक संतों द्वारा जीवमात्र की समानता का उद्घोष, तंत्रसाधकों द्वारा मानवी शक्तियों में अलौकिकता का प्रतिपादन आदि कहे जायेंगे। जाति-पाँति, जन्मना उच्च-नीच आदि की भित्तियों को गिराने का कार्य भी उसी युग में आरंभ हुआ।

इन सब प्रवृत्तियों से नारी-समाज में परिवर्तन स्वाभाविक था। एक ओर हमें युद्धों में सहयोग देनेवाली तथा जौहरव्रत करने वाली पद्मिनी, कर्णदेवी जैसी वीरांगनाएं प्राप्त हुईं और दूसरी ओर मीरा, सहजो, दयाबाई आदि साधिकाएं। इनमें प्रथम वर्ग को सामाजिकता के लिए अवकाश नहीं था तथा दूसरा वर्ग समाज-त्याग के लिए विवश था। साहित्य में भी नारी का चित्र समाजानुकूल ही मिलता है। सीता पत्नी होने के कारण कष्ट सहने को बाध्य थीं और राधा पत्नी न होने के कारण। तंत्र-साधक अलौकिक शक्ति प्राप्त करने के लिए स्त्री को साधन बनाने की साधना करते थे और निर्गुणवादी मत उसे माया कहकर छोड़ने की साधना करते थे। कहीं वह देवताओं के मनोरंजन के लिए देवदासी बनी और कहीं पुरुष के मनोरंजन की सामग्री।

वस्तुतः उस युग में स्त्री के अधिकार और कर्तव्य संबंधी मान्यताओं की परीक्षा कठिन ही थी।

सत्य तो यह है कि मानवी रूप में उसे स्वीकार कर उसके मानवीय अधिकारों का प्रश्न उन्नीसवीं शती के सुधारकों ने उठाया। महर्षि दयानंद, राजा राममोहन राय आदि ने उस सामान्य नारी की व्यथा का अनुभव किया, जिसके पास अधिकार के नाम पर दासता थी और कर्तव्य के नाम पर प्राणदान। वैदिक धर्म का पुनरुत्थान और ब्रह्मसमाज का प्रारंभ दोनों ही जागरण के लिए वैतालिक सिद्ध हुए। सती, बाल-विवाह जैसी प्रथाओं के विरोध तथा विधवा-विवाह, शिक्षा आदि सुधारों ने तत्कालीन नारी समाज को जो दिशा दी, उसपर चलने की शक्ति उसे देश के सांस्कृतिक जागरण से प्राप्त हुई। भारत माता के मंदिर में जो दीप जला, उसके आलोक से मातृप्रतिभा के चरण ही नहीं आलोकित हुए, भारत की अधोमुखी नारी की मुख-छवि भी उज्ज्वल हुई।

प्रथम बार भारत के भिन्न जाति, धर्म और संप्रदायों के व्यक्तियों ने एक होकर विदेशी शासन से मुक्त होने का प्रयास किया और नारी ने संपूर्ण प्राण प्रवेग से साथ देकर अपने समर्थ सहयोगी होने का प्रमाण दिया। शत्रुओं ने भी जिसका, सुयोग्यतम सेनापति होना स्वीकार किया है, उस झांसी की वीरांगना को यदि तत्कालीन पुरुष-समाज का विश्वास और अधिक अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त होतीं, तो संभवतः कथा दूसरी होती। अनेक अंतर्बाह्य दुर्बलताओं तथा अपने ही व्यक्तियों के विरोध के कारण वह विद्रोह असफल हुआ। किंतु स्त्री

की अपनी शक्तियो की खोज न समाप्त हुई और न असफल । तब से उसकी यात्रा आलोक से और अधिक आलोक की ओर ही होती रही है ।

राष्ट्र-जीवन मे, उस सफलता से, जो जाति को अहकार से मूर्च्छित कर देती है, वह असफलता मूल्यवान कही जायगी, जो उसे झकझोर कर मार्ग पर खडा कर देती है ।

बीसवी शती का जागरण अनेक दृष्टियों से अन्य क्रांतियो से भिन्न ही नही था, वह बाह्य दृष्टि से अधिक व्यापक तथा अतर्दृष्टि से अधिक गहरा भी था । उसमे सामान्य जन का आह्वान भी था तथा नैतिक मूल्यो की दृष्टि से उसे विशिष्ट बनाने का प्रयत्न भी । वस्तुत इस स्वातत्र्य सग्राम मे अपने अस्त्र-शस्त्र ही नहीं, उन्हें चलाने वाले और उनके लक्ष्य शत्रु भी बदल गये थे । अस्त्र-शस्त्रो का स्थान अहिंसा, सत्य आदि नैतिक मूल्यो ने ले लिया था, इनका प्रयोग करने वाले वे सामान्य जन थे जो इनका उपयोग भूल चुके थे, लक्ष्य विपक्षी का हृदय-परिवर्तन था और जय सबके लिए स्व की प्राप्ति थी । वास्तव मे हमारा स्वातत्र्य-सग्राम राजनीतिक से अधिक मूल्यात्मक क्राति था, इसी कारण उसका स्पर्श जीवन के सभी पक्षो और विशेषत उपेक्षित पक्षो ने गहराई तक अनुभव किया । सस्कृति, भाषा, कला, साहित्य, धर्म, नीति आदि मे वह दीप्ति उसी प्रकार विच्छुरित हुई जैसे अनेक शीशो पर एक ही दीपशिखा प्रतिफलित होती है ।

महात्मा गाधी की इस उक्ति का, कि यदि माताए साथ नही आती तो मैं सौ वर्ष प्रयत्न करके भी देश को स्वतत्र नही कर सकूगा, का जैसा उत्तर भारत की नारी ने दिया वह उसकी व्यापक पीडा और युगव्यापी अशिक्षा देखते हुए अकल्पनीय था । कारण स्पष्ट है ।

भारत का सामान्य जन, जिसमे स्त्री भी सम्मिलित है, शिक्षित न होकर भी सस्कृत है । जीवन-मूल्यो से उसका परिचय अक्षरो द्वारा न होकर अनुभवो द्वारा हुआ है, अत उनका सस्कार समय के साथ गहरा होता गया है । आज भी नीति, धर्म, दर्शन, आचार, कर्तव्य आदि का एक सहज बोध रखने के कारण भारत का अशिक्षित समुदाय, शिक्षित समुदाय की अपेक्षा धरती के अधिक निकट और जीवन सग्राम मे ठहरने के लिए अधिक समर्थ है ।

हमारे स्वातत्र्य-सघर्ष मे, अशिक्षित पर सस्कृत, शिक्षित पर असस्कृत दोनो वर्ग का प्रतिनिधित्व है । उसमे नारी की परपरागत सीमाओ मे इतना परिवर्तन नही हुआ, जितना उसके मानसिक जगत् मे स्वाभाविक हो गया ।

उसकी तुलना उन पक्षियो से की जा सकती है जो जाल से मुक्त न होकर भी जाल के साथ ही आकाश मे उड जाते हैं । बेडियां टूटी नही, रूढिया छूटी नही, किंतु उसने मुक्त आकाश का स्पर्श पा लिया । इस प्रकार मुक्ति और बधन दोनो साथ रहे और मेरे विचार मे आज भी हैं । इसके अतिरिक्त स्वतत्र होने

के उपरात विभाजन की रक्त से उफनती वैतरणी ने भी उसे गहरे घाव दिये हैं।

सम्मुख सघर्ष मे लगे घाव वीरता के प्रमाण पत्र होते हैं, अत उनसे मनोबल बढ़ता है। किंतु अहेरियो से घिरे पशु के समान विवश स्थिति मे जो आघात मिलते है, वे अपनी दुर्बलता का प्रमाण होने के कारण आहत को अधिक हीनता का अनुभव कराते रहते हैं।

इस सबध में स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय नारी किसी भी अर्थ मे न साम्प्रदायिक है और न कठोर विध्वसक। उसी से समाज की पाशविक वृत्ति उसे स्तब्ध, मूर्छित या भ्रात करती रही है। परतु जिस नियम से चदन मे अग्नि रह सकती है या तूल जैसी हल्की वस्तु कठित हो सकती है उसी नियम से अपने शील और सहनशीलता के लिए विख्यात नारी मे विध्वसक विद्रोह जाग उठता है और तब समाज सास्कृतिक सकट की स्थिति मे पहुच जाता है। यह विद्रोह भारतीय नारी मे न स्वातत्र्य-सग्राम मे जागा था और न स्वतत्रता की प्राप्ति के समय। यह आक्रोशपूर्ण विद्रोह आज जागा है और इसके अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारण हैं।

स्वतत्रता की प्राप्ति के उपरात भारतीय नारी की स्थिति म राजनीतिक और वैधानिक दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनके अनुसार समाज मे परिवर्तन नही हो सका।

भारतीय सविधान ने उसे मताधिकार ही नही नागरिक के सभी अधिकार प्रदान किये। उसके कर्मक्षेत्र मे भी अधिक विविधता तथा व्यापकता आ गई। उत्तराधिकार, दहेज, विवाह-विच्छेद-सबधी विधान बन जाने से उसके वैधानिक अधिकारो मे भी वृद्धि हुई किंतु भारत मे कोई सामाजिक क्राति नही हुई। अत समाज के गठन म कोई क्रातिकारी परिवर्तन सभव नही हो सका। समाज में समय और आवश्यकता के अनुसार जो कुछ टूट जाता है वह भी अपने स्थान पर रह जाता है और जो नया बनता है वह भी। मानो एक ही यत्र मे ढीले-कसे दोनो प्रकार के पेच और बोल्ट हो।

समाज म एक प्रकार से कई युग एकसाथ जी रहे हैं। कारण स्पष्ट है। शासन लिखित विधान से चलता है और समाज अलिखित परपरा से सचालित होता है।

समाज की अलिखित परपरा मे परिवर्तन का कारण उसके सदस्यो की मूल्यात्मक या सास्कृतिक दृष्टि ही रहती है। दुर्भाग्य से उस मूल्यात्मक दृष्टि का हमारे समाज मे अभाव है। विधान मे बाल विवाह का निषेध है, समाज मे बाल-विवाहो का क्रम निरतर है। विधान मे दहेज लेना निषिद्ध है, समाज मे विवाह के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। विधान मे स्त्रियो के लिए उच्च शिक्षा के द्वार खुले हैं। समाज उच्चशिक्षित महिलाओ का अविश्वास करता है।

'विधान अस्पृश्य को दूर रखने पर दंडित है और समाज अस्पृश्य को पास लाने पर बहिष्कार करता है। इस घात-प्रतिघात मे न निर्माण सभव है, न ध्वस।

जब वैधानिक स्थिति और सामाजिक स्थिति परस्पर विरोधी हो, तब सदस्यो के अधिकार अलकारमय रह सकते हैं।

समाज वास्तव मे मानव-सबधो की सामजस्यपूर्ण स्थिति की सज्ञा है, अत सबधो के स्वस्थ रूपो पर ही समाज का स्वास्थ्य निर्भर रहता है। अस्वस्थ समाज राष्ट्र का सबसे क्रूर शत्रु है, इस सत्य को अभी हम पूर्णत समझ नही सके हैं।

उन्नीसवी शती के द्रष्टा और सुधारको की दृष्टि इस ओर गई थी और उन्होने मानवीय सबधो के परिष्कार का प्रयत्न भी किया था। बीसवी शती का अधिकाश, स्वतत्रता की सघर्ष-कथा है। उस समय दृष्टि का केंद्र बिंदु विदेशी शासन से मुक्ति ही रही और स्वतत्रता प्राप्ति के उपरात उक्त केंद्र-बिंदु से छूटी दृष्टि ने केवल अधिकार की दिशाए खोजी।

परिणामत राजनीति तथा समाज दोनो ही पक्ष-विपक्षो म बट गये।

इस सदर्भ मे साहित्य की भूमिका भी विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। वैसे तो भारतीय जीवन ने जितने चढाव-उतार देखे, जितने आलोक अधकार के आयाम पार किये, सबमे साहित्य उसका निरतर और विश्वस्त सगी रहा है किंतु उन्नीसवी शती क जागरण से बीसवी के छ दशको तक उसकी सीमा को जैसा विस्तार मिला है, उसने जीवन के किसी पक्ष को अछूता नही छोडा। जटिल मनोविज्ञान से स्थूल इतिवृत्त तक, देश के ज्ञान से विदेश के विज्ञान तक, चार्वाक से फ्रायड तक, कालिदास से सार्त्र तक, मार्क्स से गाधी तक सब कुछ भारतीय साहित्य की सीमा मे आ गया है।

नारी जागरण की दृष्टि से तो साहित्य उसके स्वत्व और व्यथा का समर्थ व्याख्याकार ही रहा है। कवियो के कठ मे भारत की जय ही नही गूजी, नारी की जय भी ध्वनित हुई है। कथाकारो की आखो मे, भारतमाता की परवशता पर ही आसू नही आये हैं, विवश नारी के बधनो पर भी आये हैं। बकिम, रवीन्द्र, शरत्, मैथिलीशरण, प्रसाद आदि ने भारतीय नारी की महिमा की परिधि मे उसकी युगातर दीर्घ मर्मव्यथा को वाणी दी है। इसी से उनके साहित्य मे गगा यमुनी आभा है।

महिलाओ ने इस रचनापर्व मे कितना सहयोग दिया है, यह हेमन्तकुमारी चौधरानी, सरोजिनी नायडू, सुभद्राकुमारी चौहान, तोरणदेवी आदि की रचनाओ से प्रकट है।

आर्थिक दृष्टि से आज की स्त्री को जो स्वतत्रता प्राप्त हुई है, उसके विस्तार की असख्य सभावनाए हैं। जैसे-जैसे उसके कर्मक्षेत्र की लक्ष्मणरेखा 'मिटती जाती है वैसे-वैसे वह नवीन कर्तव्य सभालने की क्षमता प्राप्त करती

जाती है। पर समाज की स्थिति के कारण, यह आर्थिक स्वावलंबन भारतीय स्त्री को पारिवारिक सहानुभूति से वंचित कर अकेला बनाता जाता है। पुरुष अकेला हो सकता है, परंतु स्त्री अनेक संबंधों की केंद्र होने के कारण एक संस्था के समान है। उसके लिये अकेलापन, एक प्रकार का निर्वासन दंड बन जाता है और उससे तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है। उल्लास के साथ शक्ति जितनी गरिमापूर्ण हो जाती है, क्लांति या थकावट के साथ उतनी ही दयनीय।

इस संबंध में पश्चिम की नारी का जीवन भी द्रष्टव्य है। उसके पास शिक्षा है। स्वतंत्र जीवन है, विस्तृत कर्मक्षेत्र है, किंतु गृह की इकाई टूट गई है और इस टूटने की रिक्तता ने उसके मनोबल को भी तोड़ दिया है। आज वह जिस आत्मघाती उन्माद में क्रियाशील है, वह मानसिक निष्क्रियता का परिणाम है। भौतिक सुविधाएं सुलभ करने वाले कर्मक्षेत्र ने उसके जीवन को अपने भार से ही चूर-चूर कर डाला है।

नवीन युग की भारतीय नारी भी इस भार का अनुभव कर रही है जो बाहर से हर क्षण को भरकर भीतर की हर सांस को खाली कर देता है। स्वतंत्रता सब के लिए जीने की शक्ति न दे सके तो मनुष्य के लिए प्रसाधनमात्र रह जायेगी और सबके लिए जीने की विद्युत् सहानुभूति के जल में उत्पन्न होती है।

आधुनिक युग, परतंत्रों और पीड़ितों के उत्थान का युग रहा है और उनके उत्थान से मानव समाज के सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

युग की अनेक उपलब्धियों में सबसे मूल्यवान उपलब्धि मानव-गरिमा की सार्वभौम स्वीकृति है। इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र का १६४८ का घोषणापत्र भी उल्लेखनीय है, जिसने स्त्री-पुरुष, वर्ण, देश, जाति, धर्म आदि के भेदों को पार कर मानवमात्र की समानता और उसके जन्मजात अधिकारों को वाणी दी। ये अधिकार, मनुष्य की राजनीतिक स्वतंत्रता से लेकर उसके बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक विकास तक फैले हुए हैं।

घोषणापत्र मनुष्य की व्यक्तिगत विशेषताओं को स्वीकृति देते हुए, उसको प्राप्य समान सुविधा की परिभाषा प्रस्तुत करता है। एक निश्चित जीवनस्तर के नीचे जीवन यापन करनेवाला मानव भौतिक अभावों से भी ग्रस्त होता है, उसके दीर्घ जीवन की संभावनाएं कम हो जाती हैं और उसकी मनुष्यता निम्नतर होती जाती है। भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ-साथ मनुष्य का शिक्षा तथा संस्कृति पर भी जन्मसिद्ध अधिकार माना गया है।

आत्मगौरव के जागरण तथा सामयिक परिस्थितियों ने विश्व के सभी पराधीन और उपेक्षित देशों को स्वतंत्रता की ओर प्रेरित ही नहीं किया, उन्हें अपनी-अपनी संस्कृति, भाषा, शिक्षा के विकास की ओर भी उन्मुख किया। विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी आश्चर्यजनक प्रगति हुई कि मनुष्य चंद्रमा पर भी अपने

चरणचिह्नो से अपनी प्रगति का इतिहास लिखा आया।

यातायात के वैज्ञानिक साधनों के कारण पृथ्वी पर दूर-दूर बसे मानवो के बीच दूरिया समाप्त हो गई और विश्व पहले से छोटा जान पडने लगा। एक की वैज्ञानिक उपलब्धि से प्राप्त सुविधा का उपभोग अनेक करने लगे, यह भी सत्य है। और एक के वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रो से अनेक आतकित होने लगे, यह भी सत्य है। एक देश के चिंतन मनन, साहित्य, जीवन-पद्धति आदि का दूसरो पर प्रभाव पडना जितना सहज हो गया, अपनी जीवन पद्धति, चिंतन-मनन आदि को सुरक्षित रखने की चिंता भी उतनी ही अधिक होने लगी।

इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना तथा विश्व चेतना की टकराहट से जो परि-स्थिति उत्पन्न हुई, उससे जनमानस भी अस्थिर हुआ और समाज भी।

समाज के अनेक सबधो का केंद्र होने के कारण भारतीय नारी और विशेषत नवीन पीढी की नारी मे जो अस्थिरता उत्पन्न हुई, उसने अतीत से चली आई अनेक मान्यताओ को खडित कर दिया है और अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। ये समस्याएं जीवन के अनेक क्षेत्रो से सबध रखने पर भी उद्गम की दृष्टि से एक है।

राजनीतिक दृष्टि से भारत की नारी अधिक अधिकार-संपन्न है। उसका कारण है। यहा नारी ने अपने वर्गगत अधिकारो के लिए सघर्ष न करके सपूर्ण देश की स्वतंत्रता के लिए किया है। प्रथम मुक्ति संग्राम की सेनानी लक्ष्मीबाई, सशस्त्र क्राति की अनेक जानी-अनजानी क्रातिकारिणिया, आजाद हिंद सेना की नारी सैनिकाएं तथा द्वितीय स्वतत्र आदोलन की नत्रिया—सबका सघर्ष तथा आत्मोत्सर्ग सपूर्ण देश की मुक्ति के लिए था। भारत के झंडे का श्रेय जिसे है वह भीखाबाई कामा भी विदेश मे निर्वासित जीवन व्यतीत करती रही।

परिणामत नारी की वर्गगत महत्ता के स्थान मे राष्ट्रगत प्रतिष्ठा मिल सकी है।

इग्लैंड जैसे प्रबुद्ध और सविधान-प्रिय देश की नारी को सफ्रेजिस्ट मूवमेंट जैसे आदोलनो के द्वारा दीर्घकाल तक मताधिकार के लिए सघर्ष करना पडा। तब १६१८ मे वह मताधिकार प्राप्त कर सका। साहित्य और सस्कृति मे अग्र-गामी माने जाने वाले फ्रास देश की नारी को मताधिकार १६२० मे मिल सका है। चद्रमा को छू आने वाले तथा वैज्ञानिक प्रगति के धनी अमेरिका की महिलाओ को भी इस अधिकार के लिए सन् १६४४ तक प्रतीक्षा करनी पडी। आज भी अनेक देशो की नारिया मताधिकार पाने के लिए ही सघर्ष कर रही हैं।

भारत की शिक्षित ही नही, अशिक्षित नारी ने भी भारत के गणराज्य बनते ही स्वाभाविक और सहज रूप से पुरुष के साथ ही मताधिकार पा लिया। स्वतत्रता के पूर्व भी उसे सम्मानित स्थान मिलते रहे। सन् १६१६ मे एनी-

बेसेंट तथा १९२५ में श्रीमती सरोजिनी नायडू पुरुषप्रधान कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित हुई और प्रचार-प्रसार आदि की दृष्टि से उनका कार्यकाल विशेष महत्त्वपूर्ण रहा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत राज्यसभा, लोकसभा, विधान परिषद्, विधान सभा आदि में अधिक संख्या में महिलाओं ने प्रवेश किया। प्रथम मंत्री के रूप में श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, प्रथम मुख्यमंत्री के रूप में श्रीमती सुचेता कृपलानी, प्रथम राज्यपाल के रूप में सरोजिनी नायडू का कार्य उनके अधिकारों के समान ही गरिमामय रहा है।

परंतु इन ऊंचे दीपाधारों के नीचे विस्तृत और अंधेरी छायाएं भी डोलती रहती है, जो भारत की बहुसंख्यक, अशिक्षित तथा रूढ़ियों की बंदिनी नारियों की हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल में महिलाओं का स्वागत है, परंतु उनकी उपयोगिता के संबंध में पुरुष समाज अब तक द्विविधा में है। वर्तमान परिस्थितियों में राजनीतिक सिद्धांतों का विघटन हुआ है तथा उसके खंडहर पर स्वार्थों का गठन होता जा रहा है। राजनीतिक क्षेत्र की नारी के समक्ष दो ही विकल्प शेष हैं, स्थिति से समझौता करना या उससे संघर्ष की भूमिका को स्वीकार करना। गृह की भित्तियों में लौटकर बंदी हो जाने का विकल्प उसे आकर्षित नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसके लिए जड़ता या मृत्यु का पर्याय है। आकाश में असंख्य आशंकाएं रहने पर भी पक्षी पाश में नहीं लौटना चाहता। नवीन राजनीतिक स्थिति के समान ही सनातन सामाजिक स्थिति भी विषम हो गई है।

नारी की दृष्टि से हमारा समाज चार वर्गों का संघात कहा जा सकता है—उच्च या अत्यंत संपन्न वर्ग, उच्चमध्यम वर्ग, निम्नमध्यम वर्ग तथा श्रमिक सर्वहारा वर्ग। इनमें से श्रमिक वर्ग की नारी को पति के साथ श्रम के सभी कार्यों में सहयोग देने का भी अधिकार है और विषम सामाजिक संबंधों को तोड़ डालने का भी। परंतु श्रम का आधिक्य और जीवन की सुविधाओं का सर्वथा अभाव उसकी मुक्ति की दीप्ति को मलिन करते रहते हैं।

इसके विपरीत जिसे उच्च और संपन्न वर्ग की संज्ञा दी जाती है, उसमें नारी शिक्षित, संस्कृत और कलाकुशल होने पर भी अलंकार-मात्र है। उसे न अपनी गृहस्थी के लिए श्रम की आवश्यकता है और न संतान के लिए। वैभव से घिरी संपन्न वर्ग की महिला अपने मनोरंजन के लिए कोई सामयिक सामाजिक कार्य कर सकती है, किंतु उसका प्रधान कर्तव्य शृंगारित-प्रसाधित होकर भोज की मेज पर बैठना या पति के साथ अपने वर्ग के समाज, सभा आदि में उपस्थित होकर पति के गौरव में वृद्धि करना ही रहता है। उसके हर कार्य की परीक्षा उसके समाज की प्रतिष्ठा की दृष्टि से ही की जाती है, अतः आज के व्यापक नारी-जागरण के कारण उसमें भी असंतोष जागने लगता है।

उच्च-मध्यवर्ग, सपन्न-वर्ग से दूर होकर भी उसके समान दिखने की भावना से ग्रस्त रहता है और निम्न-मध्यवर्ग सर्वहारा के समीप होकर भी उससे दूर दिखने के आडबर मे व्यस्त। इस प्रकार मध्यवर्ग मे कही परपराए टूटती हैं और कही बनती हैं। सभी क्षेत्रो मे मध्यवर्ग के व्यक्ति ही कार्य करते है, परिणामत समाज का विकास या ह्रास बहुत कुछ इसी वर्ग पर निर्भर रहता है। कार्यालय से लेकर कला, साहित्य तक मध्यवर्ग की गति है, अत उसका असतोष भी अनेकरूपी है। कभी असतोष के कारण आर्थिक हैं, कभी सामाजिक और कभी मानसिक द्वद्व।

इस समाज की नारी को भी घर-बाहर, नवीन पुरातन आदि की अनेक समस्याओ से जूझना पडता है। भारत के भावी नारी-समाज की रूप-रेखा इन्ही समस्याओ के स्वस्थ निराकरण पर निर्भर रहेगी।

अर्थ का अभाव और स्वावलबन की इच्छा दोनो ने मध्यवर्ग की शिक्षित नारी को घर से बाहर आने मे सहायता दी है, किंतु अभी तक दोनो ही क्षेत्रो मे उसकी स्थिति शका से देखी जाती है।

सामाजिक दृष्टि से सयुक्त परिवार की व्यवस्था टूट गयी है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से घर मे पति-पत्नी सतान की सीमित इकाई मे वृद्ध माता-पिता अवयस्क भाई, अविवाहित बहनें तथा अन्य निकट और असमर्थ सबधियो की स्थिति यथापूर्व है। नगरों मे स्थानाभाव के कारण अधिकाश मध्यवर्गी घर तीसरे दर्जे के मुसाफिरखाने जैसे जान पडते हैं। सामान्यत बाहर से थककर व्यक्ति घर मे विश्राम और शाति पाने की आशा के साथ आता है, परतु वर्तमान परिस्थितियो मे घर के साथ विश्राम या शाति की सगति नहीं बैठती। सबधो मे सघर्ष और कटुता, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ का अभाव, घर मे कोई निश्चित केंद्र-सचालक न होने के कारण अव्यवस्था आदि ने मिलकर घर के वातावरण से किसी मानसिक लगाव को असभव कर दिया है। इस स्थिति ने गृहणी ही नही, तरुण-तरुणिया पर भी अस्वस्थ प्रभाव डाला है। कभी-कभी आर्थिक कारणों से और कभी घर के वातावरण से मुक्ति पाने के लिए शिक्षित नारी बाहर कार्य खोजती है। अनेक महिलाओ ने लज्जा के साथ स्वीकार किया कि वे घर से मुक्त होने के लिए ही विवाह विच्छेद चाहती हैं, पतियो के किसी दोष के कारण नही। तरुण विद्यार्थी-विद्यार्थिनिया स्पष्ट कहते हैं कि घर के वातावरण में सास लेना कठिन होने के कारण वे बाहर ही घूमते रहना चाहते हैं।

जिस घर और परिवार मे मनुष्य जन्म लेता और शैशव बिताता है, उसके सस्कार जीवनपर्यंत नही मिटते। ऐसी स्थिति मे जो दस वर्ष की बालिका या बालक आगामी दशक मे बीस वर्ष के तरुण-तरुणी होंगे वे कैसे सस्कार प्राप्त

कर रहे है। यह विचारणीय है यह कहना कि विश्व भर मे ऐसा हो रहा है, अतः हमारी स्थिति चिंतनीय नही, समीचीन नही है, इस तर्क से हम ऐसे दुष्चक्र में फस जाते हैं जिसका कही छोर नही मिलता।

पश्चिम म जो औद्योगिक तथा वैज्ञानिक क्राति हुई है, उसने मनुष्य को सुविधा की दृष्टि से सपन्न बनाकर प्रतिस्पर्धा के जिस निर्मम बाजार मे खडा कर दिया है, उसमे मानवीय मूल्यो के विकास की सभावना नही है। इस परिस्थिति से उनके दूरदर्शी विचारक स्वय भी चिंतित हो उठे हैं। इसके विपरीत हमारे देश म अभी कृषि सस्कृति का युग समाप्त नही हुआ, जिसमे मानवीय मूल्यों का सृजन और सस्कार दोना होते हैं।

पश्चिम की आत्मघाती प्रवृत्तियो का अधानुसरण हमारे लिए वैसा ही हास्यास्पद है जैसे किसी पगु के अनुकरण मे अपने पैर काट लेना। महिलाओ की दृष्टि से बाहर का कार्यक्षेत्र अब तक सीमित है। कारखानो मे सर्वहारा वर्ग की स्त्रिया ही जाती हैं। राजनीति का कार्यक्षेत्र विशेष अवकाश और साधनो की अपेक्षा रखता है। शिक्षक होने के लिए विशेष शिक्षा और प्रशिक्षण आवश्यक है। डाक्टर, वैज्ञानिक आदि के कार्य भी दीर्घकालीन शिक्षण और व्ययसाध्य हैं। इजीनियर और अन्य यत्र-सबधी विभागो मे स्त्रियो का प्रवेश अभी आकाश-कुसुम है। प्रतियोगिताओ म उत्तीर्ण जो महिलाए उच्च पदो पर प्रतिष्ठित है, उनकी योग्यता के विषय मे भी कोई अब तक आश्वस्त नहीं हो सका है। यह स्थिति कभी-कभी इतनी दुर्वह हो जाती है कि स्त्री का मनोबल और आत्मविश्वास ही खडित हो जाता है। कोई भी स्वाभिमानी हर क्षण परीक्षा देने को अपमान ही मानता है। एक बार अग्नि-परीक्षा दे चुकने वाली सीता क्या दूसरी बार अग्नि-भय से परीक्षा नही दे सकी? आत्मविश्वास मनुष्य का आतरिक बल है और दूसरो का अपने प्रति विश्वास उसका अथक साथी है। दोनो को न मिलने पर यात्री निर्बल और एकाकी हो जाता है। सामाजिक स्थिति के कारण भारत की स्त्री घर-बाहर सब क्षेत्रो म सदेह से देखी जाती है, जो उसके आत्मविश्वास के लिए विष है। समाज उसे सहस्राक्ष की कठोर दृष्टि से देखता है और परिवार व्यग्यपूर्ण उपेक्षा से।

यह सत्य है कि अनेक युगो से स्त्री के सामने ऐसा मुक्त तथा व्यापक क्षितिज नही आया जैसा आज है, या जैसा निकट भविष्य मे आने की सभावना है। विगत युगो से उसे स्वतत्र रूप स किसी दिशा या मार्ग को चुनने का अधिकार नही था। धर्म के प्रतिनिधि समाज ने युग की परिस्थिति के अनुसार स्त्री के लिए जो दिशा या कर्तव्य निश्चित कर दिया, उसी की सीमा-रखा क भीतर आचरण अच्छा या बुरा हो सकता था। एक समय में एक ही लक्ष्य या धर्म निश्चित था, जिसकी ओर स्त्री को बिना तर्क किये चलना था और उस लक्ष्य

न्तक पहुच जाना ही उसके जीवन की सार्थकता का प्रमाण माना जाता था।

तब समष्टि ही व्यक्ति की नियामक थी और अब व्यक्ति ही समष्टि का निर्माता है।

आधुनिक युग मे नारी केवल पत्नी, माता आदि सबधो के द्वारा ही अपना परिचय नही देती, वह अपने-आपको राष्ट्र या समाज के उत्तरदायी नागरिक के रूप मे उपस्थित करती है।

यह सत्य है कि प्रकृति ने अपने सृजनक्रम के लिए पुरुष और नारी की रचना की है, परतु मनुष्य तो प्रकृति का अस्त्र-मात्र नही है। फिर जीवन का बहुत-सा अश ऐसा है जिसमे वह प्रकृति के उद्देश्य की सिद्धि नही करता। ऐसी स्थिति मे उसके व्यक्तित्व के अन्य उपयोग भी होगे जो उसे समाज, राष्ट्र और विश्व का सदस्य बनाते हैं।

प्रबुद्ध चेतना के बिना नवीन मनोविज्ञान को तत्त्वत समझना कठिन होने के कारण, इस स्वतत्रता मे उच्छृखलता का भ्रम हो जाना सहज है।

नवीन सदर्भ मे शिक्षा को जैसा रूप मिलना अनिवार्य था, वह नही दिया जा सका।

स्वतत्र होने के पूर्व हमारी शिक्षा का जो लक्ष्य था, वह स्वतत्र देश के अनुरूप न था, न हो सकता था। परतु वर्तमान शती के पाचवें दशक से अब तक भी उसमे तत्त्वत परिवर्तन न होना देश के सर्वांगीण विकास के लिए घातक ही सिद्ध हुआ है।

भारतीय महिला समाज मे अशिक्षितो की सख्या ८१ प्रतिशत है। १६ प्रतिशत मे अधिक सख्या साक्षरो की है, शेष मे प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च स्तर की शिक्षिताए हैं।

इस प्रकार उच्च शिक्षाप्राप्त महिलाओ की सख्या नगण्य ही कही जाएगी परतु सख्या की दृष्टि से उपेक्षणीय इसी वर्ग पर सामान्य नारी का दिशा-निर्देश निर्भर है।

सक्रातिकाल मे ऐसा नेतृत्व स्वाभाविक ही कहा जा सकता है, किंतु स्वतत्र राष्ट्र के निर्माणकाल मे समष्टि का अधिकार व्यक्ति से अधिक रहता है। एक शिक्षित पर एक लाख अशिक्षितो का बोझ हो तो उसकी अपनी यात्रा ही कठिन हो जाती है, समग्र देश या समाज को साथ ले चलने का प्रश्न ही नही उठता। इस कर्तव्य के निर्वाह के लिए समाज की जो अनुकूलता उपेक्षित रहती है, हमारे देश मे उसका अभाव है। शिक्षितो की निष्क्रियता का दूसरा कारण उनमे उस सवेदना की भी कमी है जो अपनी सुख-सुविधा से अधिक महत्व दूसरो के दुख को देती है। बालक-बालिकाओ की शिक्षा मे भेद हो या नही, इस सबध मे भी हमारे शिक्षा-शास्त्री एकमत नही हो सकते।

शिक्षा व्यक्तित्व के विकास के लिए भी है और जीविकोपार्जन के लिए भी, अत उसका लक्ष्य दोहरा हो जाता है।

शासितो के व्यक्तित्व या चरित्र का विकास विदेशी शासको के हित मे नही था और शासितो के जीविका के प्रश्न उनके कार्यालयो मे हल हो जाते थे। ऐसी स्थिति मे शिक्षा के अतर्बाह्य किसी भी लक्ष्य पर विचार की आवश्यकता नहीं हुई। परतु स्वतत्रता-प्राप्ति के उपरांत परिस्थितियो मे परिवर्तन होना स्वाभाविक था।

स्वतत्र देश का उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक होने के लिए विद्यार्थी वर्ग को चरित्र की आवश्यकता थी, जो व्यक्ति के विकास मे ही सभव था। जीविका-पार्जन की क्षमता, सबका सामाजिक प्राप्य थी। दोनों अतर्बाह्य लक्ष्यो की उपेक्षा कर देने से शिक्षा एक प्रकार से समय बिताने का साधन हो गई। इस उपेक्षा का परिणाम तब प्रकट हुआ जब विद्यार्थी ने शिक्षा के सब सोपान पार कर लिए।

व्यक्ति-विकास के लक्ष्य के अभाव ने उनके आचरण को प्रभावित किया तथा आजीविका के अभाव ने उसे परजीवी बनाकर असामाजिक कर दिया।

भारतीय विद्यार्थिनी की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। स्त्री का कर्मक्षेत्र घर होने के कारण उसके साथ परोपजीवी या बेकार का विशेषण नही लगाया जा सकता। उनके जीवनयापन की व्यवस्था पिता, भाई, पति आदि को करनी चाहिए, ऐसी समाज की सनातन मान्यता है।

परिवार के अर्थसकट को दूर करने के लिए बाहर कार्य करने पर भी उसका यह अधिकार सुरक्षित रहता है। इसके अतिरिक्त प्रशसा का लाभ भी होता है। व्यक्तित्व की दृष्टि से शिक्षा द्वारा उसका उचित विकास तो नही होता परतु उसकी शिक्षा, विद्या, बुद्धि आदि उसके लिए तथा उसके परिवार के लिए गर्व के विषय रहते हैं। इसके विपरीत पुरुष की विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि का मापदड नौकरी ही रहती है। बेकारी मे यह गुण निंदा के कारण बन जाते हैं।

इस सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति के कारण कुठाग्रस्त विद्यार्थिनियो की सख्या कम है और जो हैं, उनकी कुठा, निराशा आदि के कारण जीविको-पार्जन के अतिरिक्त कुछ और हैं।

नवीन युग मे सब देशो की प्रबुद्ध नारियो ने जो विकास किया है उसम भारत की नारी का भी अशदान है। जैसे भिन्न-भिन्न पर्वतो से निकलनेवाली नदिया भी अपने-अपने मार्ग से बहती हुई एक ही समुद्र मे मिलती हैं वैसे ही विश्व के छोटे-बडे देशो की नारिया अपने-अपने देशो की सास्कृतिक विशेषताओ के साथ एक विकास का लक्ष्य रखती हैं।

समाज का कोमल पक्ष होने के कारण उन्हें विकास के मार्ग मे कुछ कठि-

भाइया झेलनी पड़ी, परंतु उन्होंने अपना स्वत्व प्राप्त करने का संकल्प नहीं छोड़ा। संघर्ष में उन्होंने कुछ ऐसी प्रवृत्तियां भी प्राप्त कर लीं, जिनसे समाज अपरिचित रहा। इनमें मुख्य शारीरिक शक्ति है।

स्त्री के संबंध में समाज की बद्धमूल धारणा रही है कि वह शारीरिक बल की दृष्टि से पुरुष से दुर्बल है। प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष की समानता करके उसने प्रमाणित कर दिया है कि उक्त धारणा के मूल में कोई तथ्य नहीं था। अंतरिक्ष में यात्रा करके, वायुयानों का अपहरण करके सैनिकों के समान गुरिल्ला युद्ध में कठोर कर्म करके उसने अपनी शक्ति की अग्नि-परीक्षा दी और उसमें सफल हुई।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से युद्ध और क्रूर कर्म उसके विकास में बाधक हैं क्योंकि वह मातृजाति है, सृजन उसका स्वभाव है। किंतु जब नवीन युग में उसकी स्नेह-सहानुभूति से बनी गृहस्थी ही जल गई तब उसका प्रतिशोध निर्बंध हो गया।

भारत की नारी पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। यदि अन्न के बिना उसकी अबोध संतान मरती रही, सांप्रदायिक दंगों में उसका अपमान होता रहा, उसकी गृहस्थी जलती रही, तब उसका कैसा रूप होगा, यह अभी कहना कठिन है। नारी की वीरता के उदाहरण हमारे इतिहास में असंख्य हैं, क्रूरता के नहीं। भविष्य में यह भी सुलभ हो सकते हैं।

विश्व में जिन्हें साहसिक कार्य कहा जाता है, उनमें भी आज की नारी पुरुष की प्रतियोगिनी है। पर्वतारोहण का कार्य अब तक केवल पुरुषों में विशेष साहसियों को ही आकर्षित करता था। आज हिम से ढके पर्वतशिखरों के अभियान, कोमल-गात शरीर वाली युवतियों का मानो मनोरंजन हो गया है। प्रतिवर्ष पर्वतारोहण में प्रशिक्षित महिला दलों का गठन होता है और ऊंचे पर्वत-शिखर स्त्रियों के चरणचिह्नों से चिह्नित हो जाते हैं। भविष्य में साहसिक कार्यों के अधिकारी केवल पुरुष न माने जायेंगे। तैराकी, खेलकूद, अस्त्र-संचालन, लक्ष्य-भेद आदि की प्रतियोगिताओं में स्त्रियां भाग भी ले रही हैं और सफल भी हो रही हैं।

आजीविका की दृष्टि से कुछ नये क्षेत्र भी स्त्रियों के अधिकार में आ गए हैं। रूस में इंजीनियर, नौ-अधिकारी जैसे पदों पर स्त्रियां कार्य कर रही हैं। विमान चालक, पैराशूट या छतरीधारी सैनिकों जैसे पदों पर भी स्त्रियां हैं और यातायात विभाग में भी। रूस में रेल विभाग का संचालन स्त्रियों के हाथ में है। जिन देशों में बीसवीं शती के आरंभ तक स्त्रियां दास की स्थिति में रहीं, उनमें भी अनेक महत्त्वपूर्ण विभाग उनके अधिकार में आ गए हैं।

इन विशेष कार्यों के अतिरिक्त नागरिक सेवा-क्षेत्र में भी स्त्रियों की संख्या वृद्धि पर है। जिन उच्च पदों के लिए प्रतियोगिताएं आवश्यक हैं उनपर स्त्रियां प्रतियोगिता में सफल होकर ही पहुंच रही हैं। प्रतियोगिताओं में विजयी होना

जिस योग्यता की अपेक्षा रखता है, उसका अर्जन अध्यवसाय और बुद्धि दोनों की अपेक्षा रखता है। मनुष्य की बाह्य स्वतन्त्रता उसकी शक्तियों को किस सीमा तक मुक्त कर सकती है, इसका प्रमाण हमारे समाज की स्त्री है।

चिकित्सा, न्याय आदि के क्षेत्रों मे चुनाव अपनी रुचि पर निर्भर है, परन्तु वे क्षेत्र अधिक व्यय तथा समयसाध्य हैं। जो महिलाए डाक्टर, वकील आदि के रूप मे इन क्षेत्रों में कार्य कर रही हैं उनकी योग्यता उनके पुरुष सहयोगियों से कम नही है।

लका ने विश्व को प्रथम प्रधानमन्त्री दी है, भारत ने द्वितीय और इजराइल ने तृतीय और ये देश नवजागृत देश हैं।

भारत मे विशेष महत्त्वपूर्ण कार्यक्षेत्र शिक्षा तथा चिकित्सा का है, क्योकि आगामी दशक मे बौद्धिक विकास शिक्षक पर तथा शारीरिक विकास चिकित्सक पर निर्भर करेगा।

आगामी पीढ़ी को शिक्षा के नवीन लक्ष्य के अनुसार शिक्षित करना समय की ऐसी माग है जिसे अनसुना कर देना सपूर्ण देश के लिए घातक है। गत दो दशकों से अधिक समय तक हमारा देश इस सबध मे सावधान नहीं रहा, जिसका दुष्परिणाम वर्तमान पीढ़ी की अशांति मे व्यक्त हो रहा है।

पुराने अनुभवों ने स्पष्ट कर दिया है कि शिक्षा द्वारा निर्माण का कार्य शैशव से ही आरभ होना आवश्यक है अन्यथा फिर बद्धमूल सस्कारो को मिटाना या सस्कारहीनता दूर करना असभव नही तो कठिन अवश्य हो जाता है। भारत मे शिक्षा का पात्र बालक ही नही, प्रौढवर्ग भी है, जिसके प्रबुद्ध होने पर ही समाज और देश की अनेक विषमताए दूर हो सकती हैं। इन दोनों वर्गों के साथ बेकारी की समस्या भी नही है। शैशव मे शिक्षण नौकरी का लक्ष्य नही रखता और प्रौढ अपनी जीविका की समस्या हल कर चुके होते हैं।

घर और बाहर मे सामजस्य चाहने वाली शिक्षित महिलाओ का उपयोग इनके शिक्षण में किया जा सकता है, किंतु तब शिक्षा को सेवाकार्य के ऊचे तथा व्यापक स्तर पर रखना होगा। इस समय शिक्षण शासक द्वारा निश्चित शासित के कार्य के समान है जिसमे गरिमा खोजना रेगिस्तान मे जल खोजना हो जाता है।

माध्यमिक तथा उच्चस्तर पर शिक्षा-क्षेत्र और भी अधिक अस्थिर हो उठा है। शिक्षा का लक्ष्य, शिक्षा का माध्यम, शिक्षा के विषय आदि के सबध मे शिक्षा-शास्त्रियो का विचार भिन्न है और उसका कार्यान्वयन भिन्न है, क्योंकि विचार वाले अधिकाररहित और अधिकार वाले विचाररहित हैं।

स्त्रियों की सख्या इस क्षेत्र मे मानो सतुलन बनाये रखने का कार्य करती है। अपने अधिकारों के लिए जैसे आदोलन पुरुष शिक्षक कर सकते हैं, वैसे यदि

शिक्षिकायें करें तो आभिजात्य बन जाने की शका से उनका सपूर्ण परिवार उनके विरुद्ध आदोलन करने लगता है।

शिक्षा के समान ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र चिकित्सा का है, किंतु उसमे महिला चिकित्सको की सख्या शिक्षिकाओ के अनुपात मे कम है। एक तो यह शिक्षा, जितना अर्थ और समय चाहती है उतना देना सबके लिए सभव नही और दूसरे उक्त शिक्षा के लिए रुचि का प्रश्न भी रहता है।

चिकित्सको को जिस धैर्य, सहानुभूति तथा मनोविज्ञान की आवश्यकता पडती है, वह वर्तमान विषम परिस्थितियो और तनावपूर्ण वातावरण मे सभव नही।

सामान्यत सब पुरुष या स्त्री इस क्षेत्र के उपयुक्त नही होते। जो होते हैं उन्हें अपने ज्ञान का प्रयोग अधिक मानवीय परिस्थितियो म करना पडता है।

रोगी बालक के समान हठी भी होता है और अस्थिर भी। वह चिकित्सक से अधिक-से-अधिक सहानुभूति चाहता है। महिला चिकित्सक स्त्री होने के नाते इस क्षेत्र मे पुरुष से अधिक सफल हो सकती है परतु इस सफलता के लिए मानसिक तैयारी की आवश्यकता पडेगी।

महिला चिकित्सको की एक और कठिनाई भी है। सामान्य समाज से उनका सपर्क नही रहता है और उनका अपना समाज इतना विरल या छोटा है कि वे सर्वथा अकेली हो जाती हैं। रात-दिन व्यथित और अतिक्रन्दन करने वाले रोगियो के सपर्क के कारण जीवन का जो चित्र उनके समक्ष आता है वह उल्लासप्रद तो कहा ही नही जा सकता।

जिन व्यक्तियो को वे शारीरिक व्यथा से मुक्त करती हैं वे भी उन्हें मनुष्य के स्थान पर यत्र समझते हैं। डाक्टर यदि अपने रोग की चर्चा करता है, तो सुनने वाला रोगी विरक्त होकर सोचता है कि यह क्या इलाज करेगा, जब अपना ही इलाज नहीं कर सकता।

यह सब मानवीय या सामाजिक त्रुटियां होते हुए भी जिन महिलाओं ने चिकित्सक का कर्तव्य स्वीकार किया है वे सकल्प तथा पूर्ण मनोयोग के साथ उसका निर्वाह करती हैं। परतु किसी अद्भुत व्यवस्था के कारण हमारे देश के अनेक चिकित्सालयो में न दवाइयां रहती हैं, न शल्यक्रिया के औजार और न परिचारिकाए, फिर भी हम उपालभ देने की स्थिति मे नही हैं क्योंकि जनसख्या पर इसका कोई प्रभाव नही पडता। यह मानो मृत्यु मे जीवन की साधना है।

कानून के क्षेत्र मे महिला वकीलो की वृद्धि उनके प्रबुद्ध होने का लक्षण है। हम सत्य को असत्य और असत्य को सत्य बनाने की कुशलता को वकील की श्रेष्ठता का प्रमाण मानते आए हैं। यदि महिलाए भी उसी कला को अपना लें तो हर घर असत्य की पाठशाला बन जाएगा। परतु यदि वे इस राजमार्ग को

छोड़ दें तो कुश-कंटकों में मार्ग बनाकर भी वे जीवन के लक्ष्य तक पहुंच सकेंगी।

भारत में महिला अपने हित में बने कानूनों के संबंध में अब तक अनभिज्ञ है। उसकी दृष्टि से जो होता आया है वही कानून या विधि है। इस अज्ञान के कारण सामान्य स्त्री न अपने अधिकार से परिचित है और न न्याय से। न्याय इतना महंगा है कि कभी-कभी किसी अधिकार को प्राप्त करने से उसे छोड़ना हितकर हो जाता है। वकील, बैरिस्टर महिलाओं की संख्या कम है, यह सत्य है, परंतु यदि वे अपनी अज्ञान बहनों को विधि का आलोक दे सकेंगी, तो उन्हें भावी पीढ़ी को प्रबुद्ध बनाने का श्रेय प्राप्त होगा। भारतीय महिला में जो एक सहज विवेक है वह यदि जाग्रत् रहे, तो न कोई कर्मक्षेत्र उसके लिए दुर्गम होगा और न कोई कर्तव्य दुर्वह।

युग के अनुसार अन्य कर्मक्षेत्रों के द्वार भी उन्मुक्त हुए हैं। एयर होस्टेस, रिसेप्शनिस्ट, सेल्स गर्ल, फैशन मॉडल आदि अनेक नये नाम तथा कर्तव्य वाले क्षेत्रों में उसने पैर रखा है। इन क्षेत्रों में उसके जैसे मधुर-कटु अनुभव होंगे उन्हीं के आधार पर नवीन दशक की नारी का भावी कर्मक्षेत्र निश्चित हो सकेगा। नवीन पीढ़ी को नवीन अनुभवों का पाथेय ही स्वीकार होता है।

आज की बालिका ही आगामी दशक की युवती होगी। अपने देश, समाज आदि की अतीत समृद्धि भी उसके सामने होगी और त्रुटियां भी। इसके अतिरिक्त तब उसके समक्ष देश-विदेश के नारियों के इतिहास की एक विविध और विस्तृत चित्रशाला होगी, जिसमें उसकी पूर्वजाओं के संघर्ष, जय-पराजय आदि से उसका परिचय आत्मीय और स्वाभाविक होगा। अतीत के साथ निकटवर्ती अग्रजाओं के संघर्ष और समझौतों पर भी वह विचार करेगी। यह संभव नहीं कि वह किसी सुदूर अतीत में लौट आने की या लौट जाने की इच्छा करे। संभावना यही है कि वह अपने अनुभवों के आलोक में पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त संस्कारों का परीक्षण करे तथा अपने लिए युग की आवश्यकताओं के अनुरूप कोई मार्ग चुने।

नृतत्वशास्त्र कहता है कि मनुष्य-शरीर के कोषों में ऐसे तत्त्व मिलते हैं जो उसे अपने आदिम पूर्वजों से प्राप्त हैं। मानसिक विकास में भी ऐसे तत्त्व हैं जो नवीन परिस्थितियों में नवीन रूप ग्रहण करते रहते हैं। यह स्वाभाविक भी है। बीज बोने वाला भावी वृक्ष को प्रत्यक्ष नहीं देखता किंतु यह निर्विवाद रूप से जानता है कि अमुक वृक्ष ही उत्पन्न होगा।

किसी भी युग में पूर्वसंचित मानव-ज्ञान, धोई-पोंछी स्लेट के समान तिरोहित नहीं हो जाता। न किसी पीढ़ी की जीवन-यात्रा अतीत के पाथेय के बिना चली है।

आगामी दशक की युवती वर्तमान दशक की बालिका है। अपने बाल्यकाल में उसने जो संस्कार और अनुभव प्राप्त किये हैं उन्हीं की आधारशिला पर उसके भविष्य का निर्माण होगा। अन्य देशों के ज्ञान-विज्ञान उसके लिए त्याज्य नहीं

होंगे। यह सत्य है, किंतु भारत की धरती से उसका सबंध विच्छिन्न नहीं हो सकता। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्तरो पर उसकी स्थिति आज की स्त्री से उच्चतर होना अनिवार्य है। वर्तमान युग की भारतीय नारी को कई मोर्चों पर सघर्ष करना पडा, जिसमे मुख्य विदेशी शासन का था। आगामी दशक की स्त्री स्वतन देश की नागरिक होने के कारण अपने स्वत्व के लिए समाज से याचना करने की आवश्यकता नही समझेगी। युगो से दलित-पीडित रहने के कारण जो हीनता के सस्कार बन गये थे, उन्हे आधुनिक भारतीय नारी ने अपने रक्त और प्रस्वेद से इस प्रकार धो दिया है कि आगामी युग की नारी को उस पर कोई रग नही चढाना पड़ेगा।

कला और हमारा चित्रमय साहित्य

जिस प्रकार मानव शरीर का जितना बाह्य अंश हम अपने चक्षुओं से देख सकते हैं, उतना उसे पूर्ण नहीं बना पाते, उसके हृदय, मस्तिष्क आदि अनेक हमारी दृष्टि से छिपे अंग उसे पूर्णता देकर कार्य के योग्य बनाते हैं, उसी प्रकार देश-काल की सीमा में बंधा हुआ, परिस्थितियों में ढला हुआ मनुष्य का जितना जीवन हमारे सम्मुख रहता है, उतना ही उसकी पूर्णता के लिए पर्याप्त नहीं होता। उसकी पूर्णता के लिए हमें केवल चलते काम करने या देखने वाले सीमित जीवन को ही नहीं समझना पड़ेगा वरन् कल्पना-लोक में विचरते, स्वप्न देखते तथा सत्य को खोजते हुए जीवन को भी जानना होगा।

मनुष्य का जीवन रागात्मक तथा इतिवृत्तात्मक अनुभूतियों का संघात कहा जा सकता है जिनमें एक उसे व्यावहारिक संसार के लिए उपयोगी बनाती है और दूसरी एक अलौकिकता की सृष्टि कर कला को जन्म देती है, जो व्यावहारिक जीवन की रुक्षता को सरस बनाती हुई उसके सम्मुख विकास का सुंदरतम आदर्श उपस्थित करती रहती है। वास्तव में मनुष्य में सत्य का ऐसा एक क्रियात्मक और रहस्यमय अंश छिपा हुआ है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए सुंदरतम साधन खोजता रहता है और इस सत्य का सौंदर्य में रागात्मक प्रकाशन ही कला के सत्य शिव सुंदर की परिभाषा हो सकता है।

कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौंदर्य, दुर्बलता तथा शक्ति, पूर्णता और अपूर्णता—सब की सामंजस्यपूर्ण रागात्मक अभिव्यक्ति है और उसकी चरम सफलता जीवन तथा विश्व में छिपे हुए सत्य को सब ओर से स्पर्श कर लेने में निहित है। हम बाह्य विश्व को दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—प्राकृतिक और मानवीय, एक के द्वारा हम वस्तुओं के भौतिक उपकरणों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को भी उन्हीं की श्रेणी में सम्मिलित कर लेते हैं, दूसरे से विश्व के विभिन्न रूपों में व्यक्तित्व का आरोपण कर उन्हें भी मनुष्य के संगी के रूप में स्वीकार कर उनके सौंदर्य पर मुग्ध और असभ्यता पर खिन्न होने लगते हैं। पहला दृष्टिकोण वैज्ञानिक तथा दार्शनिक से संबंध रखता है और संसार की सारी सुषमा में

ककाल दिखाकर उसकी व्यर्थता के प्रति हमारे हृदय मे विराग उत्पन्न किए बिना नही रहता । दूसरा कलाकार का है, जो विश्व की अपूर्णता को अपनी कल्पना से पूर्ण और उसके सौंदर्य के आवरण मे सत्य की झाकी दिखाकर हमारे हृदय मे आनद उत्पन्न कर देने मे समर्थ है ।

सत्य के अन्वेषक दोनो है, परतु एक परिचित वस्तु को भी अपरिचित बनाकर उससे दूरी की भावना को जन्म देता है, दूसरा परिचित को परिचिततम बनाकर उसे अपना एक अश मान लेने पर बाध्य करता है । उदाहरणार्थ—रश्मियो से खेलने के लिए उत्सुक तरग शिशुओ से हमारा निकटतम परिचय है, परतु जल को बनाने वाले हाइड्रोजन और आक्सीजन से हम अपरिचित हैं । इसी से एक को हम चाहते हैं तथा दूसरे से अपना ज्ञानकोष बढाकर भी दूर रहना चाहते हैं ।

इन्ही कारणो से कलाकार हमारे जीवन मे एक विशेष स्थान रखता है । वह अपनी एकत्रीकरण शक्ति से एक वस्तु की अपूर्णता मे दूसरी की पूर्णता मिलाकर एक ऐसी नवीन वस्तु का निर्माण कर देता है, जो हमारे लिए सौंदर्य, शक्ति आदि का अमर आदर्श बन सकती है । इसी से हमारे जीवन के उच्च और सुदरतम आदर्श कलाकारो की ही कृतिया रहे है ।

कलाकार यदि सत्य अर्थों मे कलाकार हो, तो वह कल्पना और उससे जीवन सगीत की सुरीली लय की सृष्टि कर लेगा । उसके, कला मे साकार आदर्श तलवार की झनझनाहट मे नही टूटते, बासुरी की मादक तान मे नही बह जाते, मनुष्य की दुर्बलता पर हताश नही होते, कुरूपता पर कुठित नही होते और क्षणिक सौंदर्य पर चमत्कृत होना भी नही जानते । सभी सुगम दुर्गम मार्गों मे, सारे सुख-दुखो म, सारी फूल शूलमयी परिस्थितियो मे कला जीवन की सगिनी रही है और भविष्य मे भी रहेगी ।

कला, कला के लिए है या जीवन के लिए—यह प्रश्न उत्तर को अपने भीतर ही छिपाये हुए है । कला यदि जीवन की, सौंदर्य मे, सत्य मे, अभिव्यक्ति है तो भी वह जीवन से सबद्ध है । वह यदि जीवन की अपूर्णताओ को पूर्ण करने का प्रयास है तो भी उसके निकट है और यदि केवल उससे प्रसूत या उसका प्रतिबिंब है तो भी उसी की है । प्रकारातर स कहा जा सकता है कि जीवन कलामय है और कला सजीव, अत इनका परस्पर अपेक्षित अस्तित्व अनपेक्षित बनकर नही जी पाता, चाहे निर्जीव प्रतिमा बनकर रह सके । प्राय कार्य और कारण या उपकरण और उससे बनी वस्तु मे रूप, रग और आकार की भिन्नता हो सकती है, प्रकृति की नही, परतु हमारी कला इस कार्य-कारण-सबधी नियम के अनुसार नही चलती, कारण वह क्षणिक जीवन से प्रसूत होकर भी अमर है । वह हमारे नीरस जीवन को सरस बनाने मे, निराश्रय हृदय को अवलब देन

में और हमारे साधारण जीवन के लिए आदर्श स्थापित करने में सदा से समर्थ रही है।

हमारा जीवन अपनी उच्चतम, प्रियतम भावनाओं को, कल्पनाओं को उसमें साकार करता है और फिर उस आकार के अनुसार अपने-आपको बनाने का प्रयत्न करता रहता है।

कलाओं में काव्य जैसी श्रव्य कलाओं की अपेक्षा चित्र जैसी दृश्य कलाओं की ओर मनुष्य स्वभावतः अधिक आकर्षित रहता है। मूर्तिकला, चित्रकला आदि दृश्य कलाएं एक ही साथ हमारे नेत्र, स्पर्श और मन को तृप्त कर सकती थी, इसी से वे हमें अधिक सुगम और तात्कालिक आनंददायिनी जान पड़ी। विशेषकर चित्रकला, मूर्तिकला के काठिन्य से रहित और रंगों में सजीव होने के कारण अधिक आदृत हो सकी। यह बोधगम्य इतनी अधिक है कि शैशव में कठिन से कठिन ज्ञान इसके द्वारा सहज हो जाता है। यह जीवन के निकट इतनी है कि बालक बहुत सारे प्रत्यक्ष ज्ञान को टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बांधने का प्रयत्न किए बिना नहीं रहता। प्राचीन काल में इसने मनुष्य के निकट कितना सम्मान पाया, इसका निदर्शन अजंता तथा एलोरा के गह्वरों में अंकित चित्र हैं। पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएं चाहे विरही यक्ष से संबंध रखती हों, चाहे राजा दुष्यंत से—बिना इस कला के मानो पूर्ण ही न होती थीं।

कला मनुष्य से संबंध रखती है और मनुष्य को किसी विशेष वातावरण में पलकर बड़ा होना पड़ता है जिसके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो सकना उसके लिए संभव नहीं। यह वातावरण सामाजिक परिस्थितियों से और सामाजिक परिस्थितियां प्रायः राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर विशेष रूप-रेखा पाती हैं। परंतु, यह निर्विवाद है कि प्रत्येक परिस्थिति अपनी समस्याओं से ऊपर उठ सकने वाले कलाकारों को उत्पन्न कर लेती है। एक युग की विशेष परिस्थितियां और उनके अनुरूप निर्मित आदर्श दूसरे युग में ठीक उसी रूप में नहीं लौटते और यदि लौटें भी तो विकास की गति में बाधा हो बनकर लौटेंगे। उपयोगी बने रहने के लिए उन्हें पुरानी आत्मा को नये कलेवर में छिपाकर अवतीर्ण होना पड़ता रहा है। जिस समय शत्रु सम्मुख थे, हाथ में असि थी, उस समय कला का आह्वान हृदय की सारी रौद्रता और निष्ठुरता जगाने के लिए ही हुआ था। उसके उपरांत जब पराजित जाति हताश थी, अपमान के शूल से बिंधा हृदय लिये तड़प रही थी, उस समय कला एक हाथ में भक्ति की सुधा और दूसरे में विलास की मदिरा लेकर अवतीर्ण हुई। कोई तन्मयता में अपने-आपको भूला और किसी ने नशे में वास्तविकता डुबा दी। इसी प्रकार समय की लहरों से परिस्थितियों और परिस्थितियों से कला में परिवर्तन आते रहे, जिन पर उनके युग-विशेष की अमिट छाप थी। हमारे वर्तमान युग की

पुरुषोत्तम के नाम से, प्रख्यात राम और योगिराज कृष्ण के पराक्रम और ज्ञान को रेखाओं में सजीव कर देने में समर्थ चित्रकार न उन्हें मिलता है और न वे उसे खोजने का कष्ट ही उठाना चाहते हैं। ऐसे चित्रों के आधार पत्र, यदि अपकार करते हैं तो केवल इतना कि कला के आदर्श को अपेक्षाकृत अवनत करके जन-साधारण की रुचि को परिष्कृत नहीं होने देते और यदि उपकार करते हैं तो इतना कि कला और पाठक दोनों को निर्बंध नहीं बहने देते।

विषय पर कोई कला निर्भर नहीं रहती। सच्चे चित्रकार की तूलिका भगवान बुद्ध की विरक्षात मुद्रा अंकित करके भी धन्य हो सकती है और हल कंधे पर लेकर घर लौटने वाले कृषक का चित्र बनाकर भी अमर हो सकती है। कलाकार अमरता का विधायक स्वयं हो सकता है, परंतु तभी, जब उसकी कला उसकी अनवरत साधना में तप-तपकर खरा सोना बनकर निकलती है, ऐसे कलाकारों का अभाव है, यह सत्य नहीं, परन्तु इसमें बहुत-कुछ सत्य है कि हम उन्हें न पहचानते हैं और न पहचानने का प्रयत्न करते हैं। फलत अनधिकारियों के हाथ में पड़कर न तो कला विकसित होती है और न जिनके लिए कला अवतीर्ण हुई है, उनकी रुचि ही विकास पाती है।

तीसरी श्रेणी में वे सचित्र पत्र-पत्रिकाएं रखी जा सकती हैं, जिन्हें अपने व्यवसाय के अतिरिक्त किसी की चिन्ता नहीं। उन्हें न कला की उन्नति-अवनति से संपर्क रखना है, न जनसाधारण की भलाई-बुराई का विचार करना है, अत प्राय वे साधारण मनुष्यों की दुर्बलता से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं, उसे दूर करने का नहीं। वैसे तो सारा चित्रजगत् ही स्त्रीमय हो रहा है, परंतु जिन्हें केवल व्यवसाय की चिंता है उनके पत्रों ने तो स्त्रियों की सोचनीय दुर्दशा कर डाली है। जिस चित्रकार को देखिये अस्तव्यस्त या विवस्त्रा युवती का चित्र बना रहा है। उसी की माग है, फिर परिस्थितियों का दास चित्रकार क्या करे!

युवती का चित्र देना कोई दोष नहीं है, परंतु उसके पीछे जो एक पाशविक मनोवृत्ति छिपी है, उसी को अमंगलमयी कहना चाहिए। यदि एक चित्रकार हिमालय की चोटी को छूकर रंगों के फव्वारे की तरह बिखर जाने वाली किरणों को अंकित करने के लिए विकल हो उठा हो, अज्ञात समुद्र की ऊंची-नीची लहरों में झूल-झूलकर अंत की ओर जाती हुई छोटी तरणी का चित्र बनाने के लिए उसका हृदय उमड़ आया हो, जर्जर वस्त्र में लिपटे क्षीण-मलीन बालक का हाथ पकड़कर पेड़ के नीचे आ बैठने वाली अंधी भिखारिन का चित्र आंकने-आंकते यदि उसकी तूलिका थक गई हो और सुनहली गोधूली में लौटते हुए श्रांत कृशकाय कृषक और उसकी रूखे-बिखरे बालों वाली बालिका का मुख यदि उसके कागज पर उतर आया हो, तो वह युवती का सौंदर्य भी अंकित करके और अधिक पवित्र हो उठेगा। उसके लिए स्त्री का सौंदर्य संसार के अखंड सौंदर्य का एक खंड मात्र

है। जग ऐसा नही होता और चित्रकार केवल वासना से सूखे कठवालो के लिए नारी के पूत सौंदर्य को मदिराधारा बनाकर बहाने चलता है तब अवश्य ही उसमे न कला का आदर रह जाता है, न स्त्री का। प्राचीन चित्रो मे चीरहरण लीला को हम अश्लील समझा करते थे, अब स्वय ही उसे दूसरे रूपो मे दिखाने म भी हम कुठित नही होते।

चौथी श्रेणी मे आने वाली वाक्पट सबधी पत्रिकाओ के अद्भुत चित्रो और सुरुचि की छाह से भी दूर चित्र-परिचयो के विषयो म तो 'गिरा अनयन नयन बिन बानी' कहना चाहिए। यह तो चित्रकार की कल्पना नही है। सत्य का प्रतिबिंब है। कैसे-कैसे नग्न नृत्य वे कला के नाम पर करा लेते है और हम सब असीम धैर्य से देख आते है, यह सत्य होकर भी कहानी जैसा लगता है। इस समानता के युग मे स्त्री मागने गई थी अपनी स्वतत्रता और दे आई इस प्रकार स्त्रीत्व के प्रदर्शन का वचन। बाजार के पोस्टर, दवा के, तेल के विज्ञापन, पत्र-पत्रिकाओ का अधिकाश, वाक्पट, मच सब जगह स्त्री का जैसा प्रदर्शन पुरुष करना चाहते हैं, अकुठित भाव से करते हैं। यदि वह बाधा डालती है तो इन्ही वीभत्स प्रदशनो को स्वाधीनता का चिह्न बताकर उस समझा दिया जाता है। वह स्वय यह नही जानती कि इनसे उसका आदर हो रहा है या अनादर, पहले से अच्छी दशा है या बुरी। वह सोचती है, उसे ससार के उन्मुक्त वातावरण मे स्वच्छद भाव से आने-जाने का अधिकार मिल गया है, जिसके लिए वह युगो से लालायित थी। जिस जाति ने स्त्रियों की एक बडी सख्या को समाज, धर्म आदि के सब बधनो से केवल अपनी स्वच्छद प्रवृत्तियो की परिचर्या कराने के लिए ही मुक्त कर रखा है, वह स्त्रियो की वास्तविक स्वाधीनता का मर्म कितना जानती होगी, यह कहना कठिन है।

केवल सिद्धात रूप से या स्त्रियों के प्रति निरादर का विचार कर ऐसे चित्र और प्रदर्शन बहिष्कार के योग्य न समझे जायें, तो भी समाज के नवयुवको की मनोवृत्तियो पर पडने वाला उनका प्रभाव उन्हे आपत्तिजनक प्रमाणित किए बिना न रहेगा। अवश्य ही प्राचीन युग के एकात मे स्त्री का चित्र भी न देखने देने वाले सिद्धात इस बीसवी सदी के लिए उपयुक्त नही होगे, परतु इसके विपरीत एकात और कोलाहल दोनो ही मे स्त्रीमय जगत देखना भी हमारे जीवन के लिए उपयुक्त न होगा। एक ओर हम जिन स्त्रियो को समाज का कलक कहकर बस्ती के एक कोने मे फेंक आने को उत्सुक हैं, दूसरी ओर आकर्षक परिचय देकर उन्हीं के चित्र छापकर उसी रुचि को प्रश्रय देने मे भी हमे सकोच का कारण नहीं दिखाई देता, यही विचित्रता है। सजीवनी जडी तो आज तक किसी को नही ज्ञात हुई, परतु मृत्यु को तत्क्षण उपस्थित कर देने वाली विष-बूटियो को सब जानते-पहचानते हैं। इस मुमूर्ष जाति के आलसी और अकर्मण्य युवको के रक्त मे जीवनी शक्ति

पहुचाने का उपाय तो डूबने वाले डूबते-डूबते ही नष्ट हो गए, परतु इस तद्रा को मृत्यु के समान स्थिर कर देने वाली ज्वालामुखी मदिरा बिना खोजे ही सबको प्राप्त हो गई।

आज का बालक क्या देखता, क्या समझता और किस प्रकार अपने आगामी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर लेता है, इसका यदि निरीक्षण किया जाय, तो कदाचित् ही कोई ऐसा कठिन हृदय व्यक्ति होगा, जिसके प्राण न सिहर उठें। जब क्षय के कीटाणुओ के समान विषैली दुर्भावनाओ और अस्वाभाविक वासनाओ के कीटाणु उनके रक्त मे, उनके विचारो मे और उनकी कल्पनाओ मे बस जाते हैं, तब उनका स्वस्थ युवक हो सकना सभव नही। चित्र जिस प्रकार बालक की मानसिक वृत्तियो का केंद्र बन सकता है, उसके मस्तिष्क और मन दोनो पर स्थायी सस्कार छोड जाता है, उस प्रकार कोई और कला नही कर सकती। अत यदि हम अपनी चित्रों की सृष्टि की रचना मे विशेष सतर्क न रह सके, तो सभव है, अपना और दूसरो का अत्यधिक अपकार कर डालेंगे। हमारे सस्ती उत्तेजना फैलाने वाले चलचित्र जो अपकार कर सके हैं, वही हमारे पतन को दयनीय बनाने के लिए पर्याप्त हैं। उस दशा को और अधिक शोचनीय बना देने मे न कोई विशेष पुरुषार्थ है, न लाभ। अवश्य ही हमारे पाठको की एक विशेष रुचि बन गई है। अच्छे चित्रकार भी सख्या म न्यून और सबके लिए अप्राप्य हैं। हमे सबकी रुचि के विपरीत जाने के प्रयत्न मे हानि भी सहनी पडेगी, परतु यह न भूलना चाहिए कि ऊचे लक्ष्य तक पहुचने मे असफलता उतनी बुरी नही, जितना बुरा लक्ष्य को नीचा बनाते रहना है।

पार कर हमारा आख्यान-साहित्य सामान्य जन के धूल-भरे आगन मे आ खडा हुआ है। आज आसू पवित्र इसलिए नही है कि वह किसी देवता की मूर्ति की स्थिर पुतलियो मे छलक उठा है, हसी सुदर इसलिए नही है कि वह किसी दिव्य अधर पर झलक उठी है और स्पदन महत्त्वपूर्ण इसलिए नही है कि वह किसी अमर के वक्ष को चचल करता है। वरन् इन सबके पूत, सुदर और मूल्यवान होने का एकमात्र कारण है कि ये साधारण मनुष्य की जन्मजात विशेषताए हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग का साहित्य, पूर्ण देवता पर अपूर्ण मानव की विजय का लेखा है।

अग्रेजो की पराधीनता के विरोध मे जाग्रत राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रूढिग्रस्तता के विद्रोह मे उत्पन्न सुधार-आदोलनो ने हिंदी और मराठी दोनो के गद्य को प्रगतिशील विकास दिया है। वह गद्य आदर्श, आदर्शोन्मुख यथार्थ, कठोर यथार्थ की अनेक भूमिया पार करता हुआ आज मनुष्य के मनस्तत्त्व की ऐसी भूमि पर प्रतिष्ठित हो चुका है, जहा से वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य और जीवन की प्रत्येक घटना को ही नही, उस कार्य और घटना की पृष्ठभूमि मे छिपे असख्य सस्कारो और आवेगो का भी परीक्षण कर सकता है।

कादबरी की अनुकृति से आकार पाकर उपन्यास और बाल-बोधकथा से गति पाकर कहानी-साहित्य आज जीवन के कोमलतम स्तरो के प्रत्यक्षीकरण और परिष्करण मे समर्थ हो सके हैं। ललित साहित्य ही नही, कोश-रचना, व्याकरण जैसे उपयोगी साहित्य भी मराठी के कोष की बहुमूल्य निधि हैं।

नाट्य साहित्य का प्रश्न उठते ही हमारा ध्यान सबसे पहले सस्कृत नाटको की ओर जाता है जो अपने देश मे ही नही, विदेशी विद्वानो से भी अभिनदित हो चुके हैं।

नाटक की दृष्टि से सस्कृत-साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि सस्कृत से जन्म और विकास पाने वाली प्रादेशिक भाषाओ के लिए अनुवाद का उपक्रम ही स्वाभाविक कहा जायगा। हिंदी के राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मराठी के कृष्णशास्त्री राजवाडे, देवल और किर्लोस्कर ने सस्कृत नाटको के रूपातर को हिंदी और मराठी मे प्रतिष्ठित किया। सन् १८७४ से लेकर वर्तमान काल तक नाटय-साहित्य ने परिणाम से लेकर प्रकार तक और तत्र से लेकर ध्येय तक विकास की जैसी चित्रशाला प्रस्तुत की है, वह विस्मय की वस्तु है।

रगमच नाटक की कसौटी है, अतः ये दोनो अविच्छिन्न सबध मे बधे रहेंगे।

जिन परिस्थितियो के कारण हिंदी की बोलभाषाओ और मराठी के साहित्य काव्य के बीच मे कई सदियो का व्यवधान आ पडा है, उन्ही परिस्थितियों ने दोनो के नाट्य साहित्य के विकास मे भी अतर उपस्थित कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नही।

है जिन्होने सस्कृत की कठिन सीमा मे आबद्ध धर्म और सस्कृति को जन-भाषा मे मुक्त प्रवाह दिया।

श्री ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि संतो की परपरा मे हम मानवमात्र की समानता और मुक्ति के अधिकार की जैसी स्वीकृति पाते हैं, वह हिंदी के सत-साहित्य के लिए नवीन नही है।

सत्य तो यह है कि हमारे देश की भौगोलिक सीमाओ ने कभी हमारे विचारों के आदान-प्रदान का पथ नही अवरुद्ध किया। उत्तर के नाथपथ का ज्ञान जैसे बेरोक-टोक दक्षिण के समुद्रतटो को छू आया, दक्षिण की भक्ति का प्रवाह वैसे ही विध्य की श्रेणिया पार कर हिमालय से जा टकराया।

भारतीय सस्कृति के हृदय से उद्‌भूत ज्ञान और भक्ति की गगा-यमुना हर प्रदेश की सरस्वती से मिलकर ऐसे नये प्रयोगो की रचना करती गई है, जो रूप से भिन्न जान पडने पर भी तत्त्वत एक ही कहे जायेंगे।

महाराष्ट्र प्रदेश पर जैसे यादवो का स्वर्णकाल, यवनो की पराधीनता, शिवाजी का सघर्ष, अग्रेजी शासन आदि अनेक युगो के प्रवाह बह चुके हैं, वैसे ही उसके साहित्य को विविध धूप-छाया और आधी-तूफान के भीतर से मार्ग बनाना पडा है और यह निर्विवाद है कि राजमार्ग पर चलने वाले साहित्य से वह साहित्य अधिक समर्थ होगा जिसे अपना पथ स्वय प्रशस्त करना पडता है।

यह सयोगजनित न होकर तत्कालीन सामान्य परिस्थितियो का परिणाम है कि हमारी प्रादेशिक भाषाओ के आदिम साहित्य, धर्म की सीमा मे उत्पन्न और साधना द्वारा पोषित हुए हैं। केवल विशेष सघर्ष और जय-पराजय ही इस समानता मे व्यतिक्रम उपस्थित कर सके हैं।

श्री विट्ठल की भक्ति म केंद्रित वारकरी सप्रदाय, ज्ञानाश्रयी नाथपथ, कृष्ण-भक्तिप्रधान महानुभाव पथ आदि से मराठी वाङ्मय को गरिमा और माधुर्य की जो विविधता मिली है, वह किसी भी साहित्य के लिए गर्व का कारण हो सकती है।

ज्ञानेश्वरी टीका तथा दासबोध जैसे तत्त्वपरक ग्रथो, भक्ति से रससिक्त अभग पदो, वीरगाथाओ मे मुखर प्रवादो या पोवाडो, शृगार से छलकती लावण्यमयी या लावनियो के प्रहर पार कर मराठी साहित्य ने आधुनिक युग की उस सीमा-रेखा पर पैर रखा है, जिसने उसकी दृष्टि के सामने नये रूप-रगों के विस्तृत क्षितिज को आवरण-मुक्त कर दिया।

कथा, उपन्यास, नाटक, निबध, आलोचना आदि मे तरगायित होकर जीवन के असीम आकाश को अनत रूपो मे बिंबित-प्रतिबिंबित करने वाला गद्य-साहित्य आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण दान है, इसमे सदेह नही।

पौराणिक गाथाओ, इतिहास के आख्यानो, विशिष्ट जन-कथाओ आदि का क्रम

पार कर हमारा आख्यान-साहित्य सामान्य जन के धूल-भरे आगन मे आ खडा हुआ है। आज आसू पवित्र इसलिए नही है कि वह किसी देवता की मूर्ति की स्थिर पुतलियो मे छलक उठा है, हसी सुदर इसलिए नही है कि वह किसी दिव्य अधर पर झलक उठी है और स्पदन महत्त्वपूर्ण इसलिए नही है कि वह किसी अमर के वक्ष को चचल करता है। वरन् इन सबके पूत, सुदर और मूल्यवान होने का एकमात्र कारण है कि ये साधारण मनुष्य की जन्मजात विशेषताए है।

इस प्रकार आधुनिक युग का साहित्य, पूर्ण देवता पर अपूर्ण मानव की विजय का लेखा है।

अग्रेजो की पराधीनता के विरोध मे जाग्रत् राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रूढिग्रस्तता के विद्रोह मे उत्पन्न सुधार-आदोलनो ने हिंदी और मराठी दोनो के गद्य को प्रगतिशील विकास दिया है। वह गद्य आदर्श, आदर्शोन्मुख यथार्थ, कठोर यथार्थ की अनेक भूमिया पार करता हुआ आज मनुष्य के मनस्तत्त्व की ऐसी भूमि पर प्रतिष्ठित हो चुका है, जहा से वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य और जीवन की प्रत्येक घटना को ही नही, उस कार्य और घटना की पृष्ठभूमि मे छिपे असख्य सस्कारो और आवेगो का भी परीक्षण कर सकता है।

कादबरी की अनुकृति से आकार पाकर उपन्यास और बाल-बोधकथा से गति पाकर कहानी-साहित्य आज जीवन के कोमलतम स्तरो के प्रत्यक्षीकरण और परिष्करण मे समर्थ हो सके हैं। ललित साहित्य ही नही, कोश-रचना, व्याकरण जैसे उपयोगी साहित्य भी मराठी के कोष की बहुमूल्य निधि है।

नाट्य साहित्य का प्रश्न उठते ही हमारा ध्यान सबसे पहले सस्कृत नाटको की ओर जाता है जो अपने देश मे ही नही, विदेशी विद्वानो से भी अभिनदित हो चुके हैं।

नाटक की दृष्टि से सस्कृत-साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि सस्कृत से जन्म और विकास पाने वाली प्रादेशिक भाषाओं के लिए अनुवाद का उपक्रम ही स्वाभाविक कहा जायगा। हिंदी के राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चद्र और मराठी के कृष्णशास्त्री राजवाडे, देवल और किर्लोस्कर ने सस्कृत नाटको के रूपातर को हिंदी और मराठी में प्रतिष्ठित किया। सन् १८७४ से लेकर वर्तमान काल तक नाटक-साहित्य ने परिणाम से लेकर प्रकार तक और तत्र से लेकर ध्येय तक विकास की जैसी चित्रशाला प्रस्तुत की है, वह विस्मय की वस्तु है।

रगमच नाटक की कसौटी है, अतः ये दोनो अविच्छिन्न सबध मे बधे रहेंगे।

जिन परिस्थितियो के कारण हिंदी की वीरगाथाओ और मराठी के शाहिर काव्य के बीच में कई सदियो का व्यवधान आ पड़ा है, उन्ही परिस्थितियो ने दोनों के नाट्य साहित्य के विकास मे भी अतर उपस्थित कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नही।

देश के अन्य भागो से अपेक्षाकृत पहले हिंदी का क्षेत्र सघर्ष का केंद्र बना और उस सघर्ष की समाप्ति पराजय मे होने के उपरात परिस्थितिया इतनी बदल गयी कि साहित्य के नाटक जैसे प्रकार का विकास कठिन ही था। फिर रगमच की स्थिति तो और दूर की कल्पना कही जाएगी।

धर्म के क्षेत्र मे रामलीलाए, रासलीलाए ही रगमच का अभाव जैसे-तैसे पूरा करने लगी और लोक-जीवन मे स्वाग, नौटकी आदि ही मनोरजन के साधन रह गये। जब स्थिति मे कुछ परिवर्तन सभव हुआ, तब व्यावसायिक पारसी थियेटर ही रगमच की भूमिका मे आ उपस्थित हुआ, जो उर्दू की सस्ती रगीनी से रगीन, पर यहा के सास्कृतिक स्पदन से शून्य था। जीवन की गहराई मे जडें न होने के कारण ही वह व्यवसाय का साधन, सवाक् चलचित्रो के तूफान मे खो गया है।

हिंदीभाषी क्षेत्र की सामाजिक रूढिवादिता ऐसी रही कि सस्कृत और शिष्ट व्यक्ति के लिए रगमच पर खडा होना भी लज्जा का कारण माना जाता था।

हिंदी नाटक अनूदित, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, समस्यामूलक आदि परिचित क्रमो को पार कर एकाकी तक पहुच जाने पर भी जिस प्राप्य से दूर है, वह मराठी नाटक को अपने शैशव मे ही प्राप्त हो गया था। इस दृष्टि से मराठी अधिक भाग्यवती कही जायगी, क्योकि नाट्य-साहित्य के साथ ही उसके रगमच का जीवन दीर्घ और विकास स्वस्थ है।

किर्लोस्कर के 'शाकुतल', 'सौभद्र', देवल के 'मृच्छकटिक', खाडिलकर के 'कीचक-वध', स्वयवर' जैसे नाटको से लेकर आधुनिकतम नाटक तक रगमच की कसौटी पर परखे भी गये हैं और उन्होने रगमच की सीमा और सभावनाओ का परीक्षण भी किया है।

लोक-जीवन पर व्यापक और स्थायी प्रभाव डालने के साधनो मे अन्यतम नाटक है, इस सत्य का बोध तो मनुष्य को युगो पहले हो चुका है; पर इस साधन की प्रयोगात्मक रूप-रेखा युग-विशेष की समस्याओ के साचे मे ढलती-निखरती रही है।

जीवन भीतर से अनेक सस्कारो और मानसिक विकारो का और बाहर से घटनाओं का सघात है। इन घटनाओ की नाटकीय स्थितिया कभी-कभी मानसिक द्वद्वो और सघर्षों की ओर इस प्रकार सकेत कर देती हैं कि घटना अकेली न रहकर जीवन के निरतर क्रम मे स्थान पा लेती है। नाटक सामान्य घटनाओ में से ऐसी ही विशेष घटना का प्रत्यक्षीकरण है। जिस नाटककार की दृष्टि मानव प्रकृति के गहनतम स्तरो तक पहुचने की शक्ति रखती है, वही बिखरी घटनाओ की सगति बैठा सकता है और उसी का चयन और प्रत्यक्षीकरण जीवन को गहराई मे स्पर्श कर पाता है।

साहित्य जीवन का चित्र अवश्य है, परतु वह फोटोग्राफी मात्र नही कहा जा सकता। वस्तुत. वह स्वप्नद्रष्टा चित्रकार की कुशल उगलियो से आका गया ऐसा चित्र है जिसमे हर रेखा किसी सभाव्य यथार्थ को सत्य बनाती है और रग किसी अलक्ष्य स्वप्न को धरती पर उतारता है। आज जीवन की वह परिस्थिति नही है जिसमे कण्व का आश्रम सभव हो सकता, पर इससे शकुतला की मर्मव्यथा अपरिचित नही हो जाती। साहित्य और कला के लिए, 'क्षण क्षण यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतया' ही कहा जा सकता है। यह नवीनता वस्तुसापेक्ष न होकर तत्त्वगत है और यह तत्त्व असीम विविधता का कारण बनता रहता है।

आदिम युग से आज तक मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि का परिष्कार करता आ रहा है; पर इस क्रम के किसी भी बिंदु पर उसकी मानसिक तथा बौद्धिक वृत्ति का तारतम्य नही टूटा। किसी भी युग मे मनुष्य जीवन की धोई-पोछी स्लेट पर अपने अनुभवो की वर्णमाला नही आरभ करता। मनुष्य के आसू, हसी के कारण भिन्न हो सकते हैं; परतु उनके मूलगत विषाद, आनद एक ही रहेंगे।

इन मूलभावो की स्थिति को स्वीकार कर समाज अपनी स्थिति की रक्षा के लिए कुछ विधान रचता है, व्यक्ति अपनी हित-रक्षा के लिए कुछ नियम बनाता है। परतु मनुष्य से मनुष्य का सपर्क केवल विधान और नियम से सचालित नही होता, क्योकि वह प्रत्येक आदान-प्रदान को किसी अलक्ष्य तुला पर तोलकर उसका मूल्य निश्चित करता रहता है। ससार के सारे विधान, जीवन के सारे नियम, मनुष्य को मनुष्य के लिए प्रसन्नतापूर्वक छोटा-सा त्याग करने पर भी बाध्य नही कर सकते; पर वह स्वेच्छा से प्राण तक दे डालता है। अत. सामाजिक सबधो का, इस अत्यत व्यावहारिक पक्ष से लेकर एक अति मानवीय दार्शनिक पक्ष तक, विवेचन किया जा सकता है। दूसरे व्यक्ति की व्यथा से तादात्म्य ही हमे उसकी दुखद स्थिति मे परिवर्तन लाने की प्रेरणा देता है, पर उस तादात्म्य की सीमा हमारे मानसिक सस्कार की सापेक्ष्य है। इस प्रकार मानवी सबधो मे सामजस्य की स्थिति सयोग-साध्य ही रहती है।

हिंदी पत्र-जगत् : एक दृष्टि

आधुनिक युग मे विकसित होकर जिस कला ने अपनी परिधि मे मनोविज्ञान तथा मनुस्मृति को एकाकार कर लिया है, उसे पत्रकारिता ही कह सकते हैं। उसके जन्म के मूल मे तो अन्य कलाओ के समान मनुष्य की आत्मविस्तार की प्रवृत्ति ही है, परतु देश-काल की सीमाओ का अतिक्रमण कर उसका निरतर तथा बहुरूपी विकास आत्म-विस्तार से अधिक उसकी स्वार्थमूलक शक्ति-विस्तार है।

मनोविज्ञान उक्त कला का ऐसा अमोघ शस्त्र है, जो व्यष्टि और समष्टि को एकसाथ ही स्पर्श करके एक व्यापक धरातल पर दोनो के मानसिक परिवर्तन का कारण हो जाता है। दूर-समीप का कोई व्यवधान अमान्य होने के कारण उसकी प्रक्षेपण शक्ति के मार्ग मे अवरोध नही है।

वैज्ञानिक सुविधाओ से रहित अतीत युगो मे एक देश के सेनापति और सेना ही दूसरे देश के आक्रमण हो सकते थे, जिनकी ध्वसात्मक गति सीमित भी होती थी और उसके मार्ग मे अवरोध भी उत्पन्न किया जा सकता था।

आज एक समग्र देश मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दूसरे अनदखे देश के प्रति अकारण घृणा, शत्रु या मित्र भाव मे आबद्ध हो सकता है। अत एक मानसिक तनाव और सघर्ष की स्थिति निरतर गतिशील रहती है। कहने की आवश्यकता नही कि इस गतिशीलता को गहराई, विस्तार तथा सुदूर क्षितिज देने का कार्य समाचार-पत्रो द्वारा ही सपन्न किया जाता है।

पत्र जगत् के कार्य को आज के वैज्ञानिक युग के दूरभाष, आकाशवाणी, दूर-मुद्रक, दूरचित्रक, रेडियोवीक्षण आदि ने अधिक विश्वसनीय, शक्तिसपन्न और सहज बना दिया है।

अन्य देशो की स्थिति के समान ही हमारे देश की स्थिति है। भौगोलिक विस्तार तथा विविधता की दृष्टि से भारत एक ऐसा महाद्वीप कहा जाएगा, जिस का प्रत्येक प्रदेश एक स्वतत्र देश के समकक्ष रखा जा सकता है। परन्तु सास्कृतिक तथा राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से वह एक और अखड है। प्रदेशो के

अनुसार ही अनेक भाषाओ, उपभाषाओ की स्थिति अनिवार्य है, परतु उद्गम और सास्कृतिक दाय की दृष्टि से, वे सब सहोदराएं ही रहकर सार्थकता पाती हैं।

साहित्य के समान ही पत्रो का कर्तव्य भी दोहरा हो जाता है। उन्हें भी अपनी प्रादेशिक विशेषता को सुरक्षित रखते हुए, सपूर्ण महादेश की विशेषता को अक्षुण्ण रखना पडता है। यह कार्य लक्ष्यगत एकनिष्ठता तथा प्रयत्नगत विविधता से ही सभव है।

भारत के अधिकाश भाग की भाषा होने के कारण हिंदी युग-युगातर से जिस दोहरे कर्तव्य का निर्वाह ही नही, सफलतापूर्वक निर्वाह करती आ रही है, वह उसके सामर्थ्य और दूरदृष्टि का प्रमाण है।

नवीन युगबोध से सबद्ध होने के कारण हिंदी पत्रकारिता के पास विशेष प्राचीन परपरा न हो, यह स्वाभाविक है; परतु लक्ष्यत वह भारतीय चेतना तथा सस्कृति की वाहिका रही है। चाहे पत्रो को अहिंदीभाषी क्षेत्र मे जन्म और विकास मिला, चाहे हिंदीभाषी क्षेत्र मे, उनका लक्ष्य राष्ट्रीय अखडता का सरक्षण तथा प्रदेश मे महादेश तक व्याप्त चेतना का जागरण रहा।

इसी कसौटी पर हम आज के समाज और उस पर तात्कालिक प्रभाव डालने वाले पत्रो की परीक्षा कर सकते हैं।

सभ्यता और सस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटिया महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं, परतु प्रथम नही।

दर्शन, साहित्य आदि से सबद्ध उपलब्धिया तो व्यक्ति के माध्यम से आती हैं। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती हैं और कभी उनका विरोध। एक अत्यत युद्धप्रिय जाति मे ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शाति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी जो उसी हिंसक प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और सस्कृति किसी एक मे सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्याकन समाजबद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार मे ही सभव है। वह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान विज्ञान की कृतियां सभव होती हैं।

विगत कुछ वर्षों मे हमारे जीवन से सस्कार के बधन टूटते जा रहे हैं और यदि यही क्रम रहा तो आसन्न भविष्य मे हमारे लिए सस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। हरे पत्ते और सजीव फूल वृत से एक रसमयता मे बधे रहते हैं, पर बिखरने वाली पखुडिया और झडनेवाले पत्ते न वृत के रस से रसमय रहते हैं न वृक्ष की जीवनी शक्ति से सतुलित।

हमारे समाज के सबध मे भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन

के व्यापक नियम से प्राणवत है और न अपने दशगत संस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके बिखरने की पूर्वसूचना है या नही, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिह्न नही।

हमारे विषम आचरण, भ्रात असस्कृत क्रियाशीलता, अपराधो मे समाप्त होने वाले आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितिया कठिन हैं, पर यह भी मिथ्या नही कि हमारी मानसिक स्थिति हमे न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न सघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते हैं, परतु हमारी थकावट के मूल मे किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नही है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण क्षण करवटें बदलने की क्रिया है, जो उसकी चितनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन मे ऐसे सक्रातिकाल आते रहते हैं, जब उसकी मान्यताओ का कायाकल्प होता है, मूल्याकन के मान नये होते हैं और जीवन की गति मे पुरानी गहराई के साथ नई व्यापकता का सगम होता है।

परतु जैसे नवीन वेगवती तरग का पुरानी मथर लहर मे मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही सस्कार और अधिक सस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का सगम सहज होता है। सुदर और सुदरतर, शिव और शिवतर, आशिक सत्य और अधिक आशिक सत्य म कोई तात्त्विक विरोध नही हो सकता। सुदरतम, शिवतम और पूर्णतम सत्य तक पहुचने के लिए हमे सुदर, शिव और आशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यक्ता नही पडती और युग का मानव यह सिद्धात भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुदर तक पहुचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अधेरे मे भटकना ही पडेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्य-रहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अतर-बाह्य सस्कारो की परीक्षा करनी पडती है, निर्माण मे उसकी आस्था जगानी पडती है, सघर्ष को सृजन-योग बनाना पडता है।

आधुनिक युग मे मानसिक सस्कार के लिए दर्शन साहित्य, शिक्षा आदि के जितने साधन उपलब्ध है वे न द्रुतगामी है न सुलभ।

साधनो की खोज मे हमारी दृष्टि यत्र-युग की सबसे विशाल कृति पत्र-पत्रिकाओ पर न पडे तो आश्चर्य की बात होगी। जीवन का जैसा निकट और अनायास स्पर्श उन्हे नित्य प्राप्त है, वैसा अन्य साधनो को नही, अत समाज के असस्कार और सस्कार दोनो का दायित्व एक सीमा तक उनका कहा जा सकता है।

यदि किसी ऐसे सबध की कल्पना की जाये, जो एक व्यक्ति से दूसरे को दूर

रखते हुए भी उन्हें निकट पहुचाने मे समर्थ हो, प्रत्यक्ष व्यक्तित्व के आकर्षण के बिना भी उनमें सहानुभूति और स्नेह की सृष्टि कर सके तथा अन्य लौकिक सबधो के अभाव मे भी उन्हें दृढ बौद्धिक और साहित्यिक बधन म बाध सके, तो सबसे प्रथम हमारा ध्यान सपादक तथा उसके वृहत् लेखक और पाठक परिवार की ओर जाएगा।

एक ओर ऐसा व्यक्ति है जो अपने एक मस्तिष्क के विचारो को अनेक मस्तिष्को तक पहुचा देने का इच्छुक है, अपने एक हृदय की पुकार को अनेक हृदयों म प्रतिध्वनित कर देने के लिए आकुल है और दूसरी ओर ऐसा मानव समुदाय जो प्रत्येक समस्या का समाधान करने से पहले उस पर दूसरो के विचार जान लेना चाहता है, अपनी सोती हुई प्रेरणा को जगाने के लिए, बिखरे भावो को एकत्र करने के लिए तथा किसी भी विशेष दिशा मे अग्रसर होने के लिए औरो से साहाय्य और सकेत की अपेक्षा करता रहता है।

सपादक इन दोनो के बीच का दूत है, परतु ऐसा जो एक के विचारो तथा उद्गारो का मूल्य और अन्य व्यक्तियो के मस्तिष्क तथा हृदय पर उनके अच्छे या बुरे प्रभाव का निर्णय करता है। वह न देने योग्य अपथ्य के विष को अपने ही तक सीमित रखकर देने योग्य पेय को सुदर पात्र मे अन्य व्यक्तियो को समर्पित करता है। वास्तव मे वह अपने वृहत परिवार का ऐसा बडा बूढा है, जो परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से अपना स्नेह और अपनी सहानुभूति बाटता है, परतु किसी को भी उसका दुरुपयोग नही करने देता। सुदर भविष्य के सदेश-वाहक छोटे से छोटे अकुर की प्राण के समान रक्षा करने वाले तथा बडो उच्छृ-खल और उपवन के सौंदर्य को घटा देने वाली शाखा को काट देने वाले माली के मोह और विराग के समान ही उसका प्रेम और उसकी कठोरता है। किसी भी अवस्था मे उसकी दृष्टि अपने केंद्रबिंदु लोककल्याण से नही विचलित होती।

उसके उत्तरदायित्व को देखते हुए यह समझना सहज हो जाता है कि यह कार्य किसी दुर्बल, साहसहीन तथा समय के प्रवाह म प्रत्येक लहर के साथ बह जाने वाले या किनारे पर बैठकर उन्हें गिनते रहने वाले व्यक्ति का नही है, वरन् उस साहसी का है, जो प्रवाह म उतरकर भी स्थिर रहकर उसकी गहराई की थाह ले सके तथा अन्य बहने वालो को सहारा दे सके।

केवल सगृहीत कर देने के अर्थ म सपादन का प्रयोग चाहे पुराना हो, परतु इस हलचल से भरे युग मे उसकी परिभाषा विशेष रूप से नवीन है। इस समय हमे यह आवश्यकता नही कि हमारे सपादक महाभारत जैसे महाकाव्य को सपा-दित करने के भगीरथ प्रयास मे लग जावें, परतु यह उनके कर्तव्य की पूर्ति के लिए अनिवार्य है कि वे उन भावनाओ और विचारो को सर्वसाधारण तक पहुचा सकें जो सुदर भविष्य के अग्रदूत हो सकते हैं तथा उन सस्कारो को मिटाने का

प्रयत्न करें जिनसे प्रगति मे बाधा पडती है ।

हिंदी पत्रो की सख्या के अनुसार उनके सपादको की सख्या भी न्यून नही, जिसमे पुराने-नये, अनुभवी-अनुभवहीन, शिक्षित-अर्धशिक्षित, उत्तरदायित्वयुक्त, उत्तरदायित्वशून्य सभी प्रकार के व्यक्ति मिल जाते हैं । लोगो की यह धारणा देखी जाती है कि इनमे अधिक सख्या अनधिकारियो की या ऐसे व्यक्तियो की है, जो किसी भी कार्य के उपयुक्त न होने के कारण इसी क्षेत्र मे आ गए हैं । इसे सुनकर हम अप्रसन्न हो सकते हैं, परतु केवल हमारा अप्रसन्न हो जाना ही तो इस कथन को असत्य नहीं प्रमाणित कर सकता । यदि विचार किया जावे, तो इस धारणा मे सत्य का अभाव न जान पडेगा ।

हम प्रत्येक क्षेत्र मे छोटे-से-छोटे कार्य के लिए भी कर्ता मे उन गुणो को पहले देख लेते है जिनमे वह कार्य सुचारु रूप से सपन्न हो सकता है, परतु आश्चर्य का विषय है कि सपादन ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उपयुक्त पात्रता जाचने की हमारे पास कोई कसौटी नही । हिंदी मे कुछ उत्तेजनापूर्ण लिख-पढ लेने के अतिरिक्त सफल सपादक होने के लिए और किसी विशेष गुण की आवश्यकता हो सकती है, इस ओर हमारा प्राय ध्यान नही जाता । अत यदि कुछ ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र मे प्रवेश पा गए हैं, जिनके दुर्बल कधे इस गुरु भार को सभाल नही सकते तो आश्चर्य की बात नही । आश्चर्य तो तब होता है जब ऐसी अवस्था मे भी हम अपने यहा सुयोग्य सपादको का नितात अभाव नही पाते ।

प्रत्येक दुरवस्था के समान इसके भी कारण है । प्रथम तो इसका उत्तरदायित्व हमारे प्रतिकूल वातावरण और कठोर परिस्थितियो पर है, जो हमे अपने भावी जीवन के उद्देश्य या लक्ष्य स्थिर करने का अवकाश ही नही देती और यदि हम किसी प्रकार ऐसा करने मे समर्थ हो गए तो उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमे साहस और शक्ति एकत्र करने की सुविधाए तथा साधन नही मिलते ।

हमारे जीवन मे बेकारी तथा उससे सभूत दरिद्रता ने ऐसा डेरा डाल रखा है कि उनसे छुटकारा पाने के लिए किसी कार्य को स्वीकार करते समय अपनी पात्रता-अपात्रता पर विचार करना कठिन ही नही, असभव हो उठता है । इसके अतिरिक्त अधिकाश पत्र व्यवसायी-समुदाय के हाथ मे है, जिनके लिए लोक-कल्याण की चिता उतनी स्वाभाविक नही है जितनी अपने व्यवसाय-सबधी हानि-लाभ की । अतएव उन्हे सिद्धातवादी योग्य व्यक्तियो से अधिक उनकी आवश्यकता होती है जिनके द्वारा जनसाधारण का सस्ता मनोरजन हो सके ।

यहा तक तो परिस्थितियों का दोष कहा जा सकता है, जिन पर मनुष्य कभी विजय पा लेता है और कभी नही । यदि पा लेता है तो परिस्थितिया उसकी इच्छानुसार अपने-आपको बदल लेती हैं और नही पाता तो उसे अपने-आपको परिस्थितियो के अनुकूल बनाना पडता है । आवश्यकता के अनुसार कोई मनुष्य चाहे

मोची का काम करने पर बाध्य हो चाहे न्यायाधीश का, उसे दोष देना अनुचित होगा, परतु दोषी वह तब ठहराया जा सकता है जब न वह मोची का कार्य ठीक करने का प्रयास करे, न न्यायाधीश का। परिस्थितिया हमे अप्रिय कर्तव्य स्वीकार करने पर अवश्य ही बाध्य कर सकती हैं, परतु उनमे इतनी शक्ति नही कि वे हमे सच्चाई और मनोयोग के साथ उस कर्तव्य के पालन से रोक सकें।

कोई केवल सपादक के आसन पर आसीन होकर ही अपने कर्तव्य की पूर्ति नही कर लेता, जैसे नश्तर हाथ मे आ जाने से ही कोई डाक्टर नही हो जाता। रोगी के एक-एक स्वस्थ रोम मे ममता तथा केवल दूषित अग को दूर करने की क्षमता ही चिकित्सक को चिकित्सक कहलाने का अधिकार देती है। इसी प्रकार समाज के स्वस्थ विकास की ओर प्रयत्नशील तथा उस विकास की गति को रुद्ध कर देने वाली बाधाओ को दूर करने मे तत्पर व्यक्ति ही सपादक का उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति रखता है। प्रत्येक कर्तव्य के समान इस गुरु कार्य मे भी कर्ता के हृदय तथा मस्तिष्क दोनो को स्वस्थ, परिष्कृत और विकसित होना चाहिए, क्योकि सकीर्णता कर्ता और कर्तव्य के लिए सबसे बडा अभिशाप सिद्ध होती है। एक ओर उसमे इतनी सहानुभूति, इतनी उदारता की आवश्यकता है जिसमे वह किसी भी दुबलता को उपहास के योग्य न समझे और दूसरी ओर इतना ज्ञान कि उसका निदान तथा दूर करने के उपाय जान सके। इस प्रकार अक्षय सहानुभूति द्वारा अपने विस्तृत परिवार का आत्मीय बनने के उपरात वह बहुत ही सरलतापूर्वक दूसरो के स्वस्थ मानसिक विकास मे सहायता दे सकता है, जो उसके कर्तव्य का मुख्य लक्ष्य तथा दृष्टि का केंद्रबिंदु कहा जा सकता है।

सकीर्ण हृदय की सकुचित दृष्टि केवल अपने अधिकार तथा उनसे होने वाले व्यक्तिगत हानि-लाभ तक ही परिमित रह सकती है और सकीर्ण विचारो वाला अदूरदर्शी अपनी उलझी धारणाओ से दूसरो की समस्या को और भी जटिल बना देता है।

सपादक, विशेष राजनीतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक परिस्थितियो मे काम करता है, अत यह प्रश्न कि उसे इनसे सबध रखने वाले प्रत्येक विषय का वैसा ही ज्ञान होना चाहिए या नही जैसा उन विषयो के विशेषज्ञो को होता है, कुछ कम महत्त्व नही रखता। प्रत्येक वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान उसके विज्ञान-अश से भिन्न किया जा सकता है, यह हम जानते हैं। यदि ऐसा न होता तो साधारण व्यक्ति बिना विशेषज्ञ हुए कोई कार्य ही न कर सकता। फिर जब एक ही विषय की विशेषज्ञता मे जीवन बीत सकता है, तब एक ही जीवन मे अनेक विषयो का विशेषज्ञ होना सभव भी नही। जल, पवन, वनस्पति आदि के उपयोग तथा उनके गुण या अवगुणो का ज्ञान सबके लिए आवश्यक है, परतु वे किन उपकरणो से बने हैं, उन उपकरणो को कैसे भिन्न किया जा सकता है, आदि की

विवेचना और खोज उन विषयो से अनुराग रखने वाले विज्ञानाचार्यों के लिये सुरक्षित रहती है।

साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितिया परस्पर अन्योन्यापेक्षी हैं, क्योकि साहित्य, समाज तथा राजनीतिक व्यवस्थाओ को प्रभावित करता रहता है और वे साहित्य मे अपने-आपको प्रतिबिंबित करती रहती हैं। अतएव सपादक, राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का विशेषज्ञ चाहे न हो, परतु उसका इन विषयो के व्यावहारिक रूप से अनभिज्ञ होना अनुचित ही नही, हानिकर भी होगा। समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र के किसी सिद्धात-विशेष की खोज उसका ध्येय न होने पर भी उनका विकास-क्रम और उनके समाज-विशेष मे परिवर्तन उसके ज्ञातव्य रहेंगे। साहित्य मे भी कोई विशेष विस्मृत घटना खोज निकालना या ऐसा ही अन्य कार्य चाहे उसका लक्ष्य न हो, परतु साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति, उसका युगातरगामी प्रभाव तथा भविष्य के निर्माण मे उसकी उपयोगिता आदि के विषय मे न जानना उसकी अदूरदर्शिता ही होगी। कहा जाता है कि शिक्षक का आसन उसी के लिए है जो निरतर विद्यार्थी बना रह सके। यह सपादक के लिए भी सत्य है। उसका कर्तव्य इतना गुरु है, उसका लक्ष्य इतना ऊचा है तथा उसके साधन इतने अपूर्ण है कि जिज्ञासु विद्यार्थी बने बिना वह न किसी को कुछ दे सकता है और न अपने लक्ष्य तक पहुच ही सकता है। हमारे वर्तमान सपादक-परिवार मे थोडे ही व्यक्ति ऐसे होगे जो मित्र की प्रशसा, अमित्रो की निंदा और विरोधियो पर अशिष्ट आक्षेपवर्षा से कुछ समय निकालकर अपने कर्तव्य के अनुरूप अध्ययन मे उसे व्यतीत करते हो।

ससार के महान से महान परिवर्तन के, बडी से बडी क्राति के तथा भयावह से भयावह उथल-पुथल के सम्मुख भी उन्हे व्यक्तिगत कलह और आक्षेपो मे उलझा देखकर किसे आश्चर्य न होगा। उनके इस स्वभाव से लोग इतने अधिक परिचित हो उठे हैं कि कितने ही सभ्रान्त व्यक्ति अपनी यह धारणा भी व्यक्त करते हुए सकोच का अनुभव नही करते कि जो व्यक्ति सभा मे अशिष्ट, मित्रो मे अनुदार तथा असहनशील और व्यवहार मे कलह-प्रिय हो, उसे हिंदी का लेखक या सपादक समझना चाहिए। यह सम्मान क्या निकृष्ट से निकृष्ट सपादक को भी शोभा देगा? परतु तब तक इसका उत्तर ही क्या दिया जा सकता है जब तक हमारा प्रत्येक कार्य उनके कथन का प्रमाण बनता जा रहा है, हमारे जीवन का प्रत्येक दिन हमे आगे बढाने की अपेक्षा पीछे लौटा रहा है। इसमे सदेह नही कि सपादको के मार्ग मे ऐसी बाधाए हैं जो उनके विकास को चारो ओर से घेरे रखना चाहती हैं परतु यदि उनमे साहस और आत्मसम्मान हो, सगठित शक्ति हो, ससार को अपनी आवश्यकता का अनुभव करा देने योग्य दृढता हो तो बाधाए उनकी गति की बेडिया नही बन सकती, व्यवसायी जगत् उन्हे कठपुतली

का नाच सिखाने का साहस नही कर सकता और प्रतिकूल परिस्थितिया उन्हे मोम के खिलौनो की तरह गला-गलाकर नय नये रूप रगो से नही सजा सकती।

व्यक्तिगत दुर्बलताओ, व्यावसायिक परिस्थितियो के अतिरिक्त सपादकीय जीवन को विषाक्त बना देने का कारण लेखको और सपादकों मे विश्वास तथा सद्भावना की कमी भी है। सभव है इस विषय म कोई एक पक्ष अधिक या कम दोषी हो, परतु दोप दोनों ओर हैं, इसमे सदेह नही। हमारा आधुनिक लेखक अपने प्रथम प्रयास को सपादक द्वारा तुरत ही असख्य व्यक्तियो तक पहुचा देने को आकुल हो उठता है। वह किसी प्रकार भी यह विश्वास करना नही चाहता कि ससार की दृष्टि म उसके प्रथम प्रयास का मूल्य कुछ नही भी हो सकता है। जीवन का प्रथम प्रयास अस्फुट क्रदन के अतिरिक्त और क्या होता है? चलने का प्रथम प्रयास लडखडाने और गिरने उठने के अतिरिक्त और क्या होता है? फिर लिखने का प्रथम प्रयास ही क्यो इतना पूर्ण, इतना सुदर और इतना कल्याणमय समझा जाये कि उसका ससार की दृष्टि से छिपा रहना दुर्भाग्य माना जाए? प्रत्येक कला के समान साहित्य भी एक साधन है जिसम जीवन की सुदरतम अभिव्यक्ति सभव हो सकती है, परतु यह मान लेना कठिन हो जाता है कि अभिव्यक्ति का प्रयास ही उस कसौटी पर खरा उतर सकता है। ऐसे नवीन लेखको को जब तक अपने सब प्रकार के उद्गारो के, विशेष सज-धज से, पत्र के किसी कोने मे विराज जाने की आशा रहती है, उनके समान सपादक-स्तोत्रपाठी व्यक्ति ढूढ निकालना कठिन हो जाता है, परतु इस आशा के नष्ट होते ही उनके निकट सपादक का रूप उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है जैसे स्वणमृग क्षण-भर मे मारीच हो गया था। व्यक्तिगत रूप से जिन कटु सम्मतियो के लिए वे कृतज्ञ होते हैं, वे ही सपादक से सबद्ध होकर पक्षपात से विषैली जान पडने लगती हैं।

यह सत्य है कि अनेक सपादक भी नवीन लेखको के साथ न विशेष सहानुभूति रखते हैं और न उनकी रचनाओ की ओर आवश्यक ध्यान ही देते हैं, परतु प्राय इस व्यवहार का कारण निस्सार रचनाओं की अधिकता भी होती है। जो व्यक्ति नित्य बीस लेखो मे से पद्रह मे कोई सार नही पाता, उसकी ऐसी धारणा बन जाना असभव तो नही कहा जा सकता, परतु हानिकारक अवश्य है। जो व्यक्ति पाच पक्तियो का पत्र शुद्ध नही लिख सकता, उसका पच्चीस पृष्ठ का लेख भेजना अपने प्रति भी अन्याय है और सपादक के प्रति भी, क्योकि उसका साहित्य की आराधना मे परिश्रम से जी चुराना, सपादक म भी यही दुर्बलता उत्पन्न कर देता है।

आधुनिक युग मे अपन व्यक्तिगत जीवन म मनुष्य जितना परतत्र है उससे दस गुणा अधिक सपादकीय जीवन मे है। वह पत्र की नीति, पाठको की रुचि, अपनी आवश्यकता, सचालको के व्यावसायिक दृष्टिकोण आदि से इस प्रकार ढक जाता है कि हम कठिनाई स बाह्य आवरण का भेद कर उसके व्यक्तित्व तक पहुच

पाते हैं। यदि उसमें अपने उत्तरदायित्व के अनुसार दृढता, साहस तथा आत्म-विश्वास होता तो सभव है, ये परिस्थितिया बदल जाती, परन्तु दुर्भाग्य से उसकी दुर्बलता ही अन्य गुणो के रिक्त स्थानो को भरती रहती है।

लब्धप्रतिष्ठ लेखको से भी उसका ऐसा सबध नही जो स्पृहणीय समझा जा सके। जिनको उसकी सहायता की आवश्यकता है, उसकी वह अवहेलना करता है और जिनकी उसे आवश्यकता है, वे उसकी उपेक्षा करते हैं। नवीन लेखको से जैसा अनुनय-विनय उसे प्राप्त होता है, वैसा ही उसे प्रख्यात लेखको को देना पडता है, अत उनके सबध मे किसी प्रकार की आत्मीयता और सहानुभूति उत्पन्न ही नही हो पाती। यह तो प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति स्वीकार कर लेगा कि हमारे लेखको के पास शुद्ध साहित्यिक जीवन व्यतीत करने के साधन कम हैं और असुविधाए असख्य हैं। पत्र-पत्रिकाए अपनी वृद्धि के लिए उनकी सहायता तथा सहयोग अवश्य चाहते है, परन्तु उन्हे अपने विकास के लिए किसी प्रकार की सहायता या सुविधा देना अपना कर्त्तव्य नही समझते। कितने ही लेखक हमारे साहित्य के लिए अमूल्य निधि सिद्ध होते, यदि आर्थिक कठिनाइयो ने उनका मार्ग रुद्ध न कर दिया होता।

परतु इस दशा का उत्तरदायित्व केवल सपादक पर न डाल देना चाहिए, क्योकि वह तो स्वय ही अपनी सुविधाओ से पगु हो चुका है। यदि सपादको में अपने गुरु भार को वहन करने की क्षमता उत्पन्न हो सके, उनमे तथा लेखको मे सहानुभूति तथा विश्वासपूर्ण अटूट सबध स्थापित हो सके और उनकी शक्ति सग-ठित हो सके तो हमारी अधिकाश आपत्तिया दूर हो जावें। यदि हम अपनी ही दुर्बलता से आगे नही बढ सकते हैं, अपनी अदूरदर्शिता से भविष्य के सकेत को नही देख पाते हैं, अपने ही स्वार्थप्रिय स्वभाव से सहयोगियो को साथ नही ले रहे हैं और आप ही अपने शत्रु हो रहे हैं, तो किसी अन्य को अपनी आपत्तियो का कारण समझ लेना एक और दुर्बलता को आत्मसात् कर लेना होगा।

हम क्या करें और कैसे करें, इसपर विचार करने का समय पीछे आता है। पहले अभाव का तथा उस अभाव को दूर करने के साधन का स्पष्ट बोध तो होना चाहिए।

जो देश की बडी सख्या के मस्तिष्क के लिए भोजन प्रस्तुत करते हैं उनका अज्ञान और उनकी भ्राति देखकर किसे विस्मय न होगा। पिजरबद्ध मूषक को देखकर ससार को इतना कौतूहल नही होता, जितना पिजरबद्ध सिंह को देख-कर होता है।

हम स्वय ही अपनी उन परिस्थितियो का निर्माण कर लेते हैं, जो आगे चलकर हमारे भावी जीवन को ढालती हैं। अत अपनी दुर्दशा के कारण भी हमी हैं।

हिंदी संवैधानिक रूप से राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी है। अत: उसके साहित्य-ज्ञान-विज्ञान को ही नहीं, पत्र-जगत् को भी, जो [illegible] राजदूत है, उसकी गरिमा-वृद्धि में सहायक होना चाहिए।

हिंदी के पत्रों की दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, [illegible], [illegible] अनेकरूपात्मक विविधता को, संकलन-मासिक, कथा-मासिक आदि के [illegible] देकर निबंध विस्तार दे डाला है।

पत्रों के सरकारी, असरकारी वर्गीकरण के अंतर्गत अनेक [illegible] भी स्वाभाविक कही जाएगी। संस्थाओं द्वारा प्रकाशित मुखपत्र, [illegible] की विचारगत तथा साधनगत अपनी-अपनी सीमाएं होने के कारण, [illegible] योगिता-संबंधी कसौटी भी सीमित ही रहेगी।

सरकारी पत्रों की नीति जितनी निश्चित है, [illegible]। उनके संबंध में न पाठक को जिज्ञासा है, न प्रकाशक को चिंता। [illegible] जो वितरणोत्सव आरंभ होता है, वह कब तक निर्बंध चलता रह सकता है।

विदेशी दूतावासों से भी अनेक हिंदी पत्र प्रकाशित होते हैं, जिनमें देश-विदेश संबंधी ज्ञातव्य के साथ उसकी प्रचारात्मक नीति का भी [illegible] है।

भारतीयता की दृष्टि से पाठक में आत्मबोध अथवा राष्ट्रीय चेतना जाग्रत् करना न उनका लक्ष्य हो सकता है, न होना चाहिए। अपने राष्ट्र या देश के विषय में ज्ञातव्य ही नहीं, विशेष विचार-पद्धति को भी, [illegible] तथा सुंदरतम प्रभविष्णु रूप में विज्ञापित करना ही उनके पत्रों का [illegible]।

असरकारी पत्र-पत्रिकाओं में अधिकांश [illegible] द्वारा संचालित हैं, जिनके निकट पत्र-प्रकाशन पार्श्व या गौण व्यापार है। [illegible] पत्र-जगत् तक जो कुछ आर्थिक दृष्टि से लाभकर है, [illegible] में [illegible] उत्पन्न कर सकता है, सब पार्श्व व्यापार की सीमा में आ जाता है। गंगा-स्नान के उपरांत गीता-पाठ के स्थान में भी [illegible] का पारायण किया जा सकता है और शयनकक्ष के एकांत में [illegible] तन-मन के विश्राम के लिए भी।

साधनहीन, किंतु उत्साही [illegible] द्वारा जो पत्र-साहित्य प्रकाशन का सौभाग्य पाता है, उसे दुर्भाग्य के [illegible] घेरे ही रहते हैं। उसे अकाल मृत्यु से बचाने के लिए 'महाजन [illegible]' ही स्वीकार करना पड़ता है।

आधुनिक प्रचार-युग में प्रत्येक [illegible] का महत्त्वपूर्ण पक्ष विज्ञापन है, क्योंकि किसी भी प्रतियोगिता के स्तर पर [illegible] को निकृष्ट तथा [illegible] को उत्कृष्ट प्रमाणित करने में समर्थ है।

इसके अतिरिक्त पत्र-प्रकाशन [illegible] भी है और व्यापार का [illegible]

पूर्ण साधन भी। ऐसे पत्रो के द्वारा शिक्षित जन उपकृत भी होते रहते हैं, अत सामाजिक असतोष का उपचार भी सहज हो जाता है। उपकृत कभी विद्रोही की भूमिका का निर्वाह नही कर पाता। सपन्न प्रकाशक के लिए इस पार्श्व व्यापार मे लाभ अधिक तथा व्यय नगण्य है, अत उनके पत्रो को पुस्तक-विज्ञापन-पत्रिकाओ की सज्ञा ही दी जा सकती है।

राजनीतिक दलो के पत्र अपने नेताओ तथा अपनी विशेष विचारधारा के प्रति प्रतिश्रुत तथा प्रतिबद्ध रहें, यह स्वाभाविक है। एक दल के पास दूसरे दल के छिद्रान्वेषण का ऐसा कार्यक्रम है जिसमे क्रियाशीलता के अत का प्रश्न दल के अत का प्रश्न बना रहता है।

हिंदी का पाठक मानो पागलखाने का विक्षिप्त मानव है। जिस उपचार के नाम पर वह सीखचो मे बद है उसी के नाम पर बाहर के उपचारकधर्मी मुक्त हैं। उसके सुख-दु ख, हास-रोदन भी इतने अयथार्थ हो गए हैं कि कोई उसके रोने पर हसता है और किसी को उसके हसने पर दया आती है। कोई शृखला से उसका शरीर बाधता है, कोई मन को सुलाने के लिए इजेक्शन देता है। कोई मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का प्रयोग करता है, कोई प्राकृतिक उपचार का।

हिंदी के पाठक को देखकर उस सैमसन की कथा का स्मरण हो आता है जो केश काट दिये जाने पर अशक्त हो गया था और केश उग आने पर जिसने अपने विरोधियो पर मदिर ढहा दिया था।

विचारो के अभाव मे हमारा पाठक ही दुर्बल है, अत उस पर अत्याचार सहज है। जिस दिन वह प्रबुद्ध होगा उसकी अपराजेय विद्युत् शक्ति से सभी शरीर की शृखलाए तथा मन के कुठाजनित बधन जल जाएगे। तब उपचारक तथा रोगी की भूमिकाओ मे भी परिवर्तन अनिवार्य है।

हिंदी रंगमंच

नाटक जीवन की दृश्य अनुकृति के द्वारा जीवन का सशोधनात्मक अनुरजन है, अत उसे साहित्य के अन्य प्रकारो से अधिक कठिन सामाजिक कर्म माना जा सकता है। काव्य, कथा आदि मे सृजन और उपयोग दोनो ही दृष्टिकोण से दो पक्ष आवश्यक होते हैं—साहित्यकार और पाठक। रचनाकार की एकात मे रची कृति एकात में एकाकी पाठक के सवेदनशील हृदय पर अपना रहस्य प्रकट कर सार्थक हो जाती है। परतु नाटक की सार्थकता के लिए एकाकी पाठक और एकात स्थिति कोई महत्त्व नही रखती। उसके लिए स्रष्टा और अनेक दर्शको के बीच मे विभिन्न अभिनेताओ की महत्त्वपूर्ण स्थिति है और इन तीनो पक्षो की क्रिया और परिणाम का सामजस्यपूर्ण तारतम्य ही नाटक को चरम सिद्धि तक पहुचा सकता है और ऐसा तारतम्य सहज नही हो सकता। इसके अतिरिक्त सतुलन का अभाव उसे केवल सशोधन या केवल अनुरजन मे सीमित करने मे समर्थ है।

स्वस्थ समाज मे यह साधन शिक्षा, जीवन-दर्शन, प्रेरणा, अनुरजन आदि का स्वाभाविक साधन हो जाता है, परतु एक अस्वस्थ समाज मे उसके, उपदेशात्मक अथवा उत्तेजक रूपो मे सकीर्ण हो जाने की अधिक सभावना रहती है।

जहा तक हिंदी नाट्य साहित्य का प्रश्न है, उसने रगमच का साथ छोडकर अकेले ही एक लबा पथ पार किया है, अत इस अकेलेपन से उसके स्वाभाविक विकास मे बाधा न पडती तो आश्चर्य की बात होती।

सस्कृत नाट्य साहित्य विशेष समृद्ध है, परिणामत सस्कृत भाषा से जन्म पाने वाली सभी प्रादेशिक भाषाओ मे नाटक का आरभ अनुवादो के रूप मे हुआ। हिंदी भी इसका अपवाद नही है। परतु विशेष राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण रगमच का सूत्र उसके हाथ से छूट गया। तब से अब तक हिंदी का नाटक-साहित्य अनूदित, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि अनेक रूपों को पार कर चुका है। भारी कलेवर से एकाकी से हल्केपन तक आ गया है, परतु रगमच उससे पग मिलाकर न चल सकने के कारण और अधिक पिछडता ही गया

है। धर्म के क्षेत्र मे रामलीलाए, रासलीलाए और लोक-जीवन मे स्वाग, नौटकी आदि ही रगमच का अभाव भरते आये हैं, परतु आधुनिक युग के बोलपटो से उनकी पराजय निश्चित है।

जीवन के नवनिर्माण के साधनो की खोज के क्रम में हमारी दृष्टि इस महत्त्व-पूर्ण साधन पर पड़ी है अवश्य, परतु जब तक रगमच और नाट्य साहित्य के बीच की खाई नही पट जाती तब तक नाटक के उपयोग-सबधी समस्या का समाधान कठिन है।

अन्य सृजनात्मक और क्रियात्मक पक्ष वाली कलाओ के समान, नाटक के भी दोनो पक्ष एक-दूसरे पर आश्रित रहेंगे। एक का प्रभाव दूसरे पर पडता और उसे मुक्त या सयत करता रहता है। सृजनात्मक साहित्य की गति, जीवन के बाह्य और आतरिक रूपो मे अबाधित है, अत वह स्वय मुक्त रहकर जीवन की मुक्ति का विधान करने के लिए अधिक स्वतत्र है और सदा रहेगा। जीवन को व्यक्त भौतिक स्थिति से लेकर उसके अव्यक्त गूढ रहस्य तक सब कुछ उसके शब्द-सकेत पर मनुष्य के अतर्जगत् मे पखुडियो के समान खुलता चलता है। इसके विपरीत क्रियात्मक पक्ष के लिए, काल-स्थिति के अनेक बाह्य बधन स्वीकार करना अनि-वार्य हो जाता है। एक मे मानो सौरभ की अव्यक्त पर पहचानभरी उडान है और दूसरे मे मानो उस विस्तार को सभालने वाली पखुडियो का निर्माण है। एक में मुक्त प्रसार का हल्कापन है और दूसरी मे घनत्व।

इनमें एक भी पक्ष विच्छिन्न होकर एक ऐसी विपरीत दिशा ग्रहण कर सकता है जहा दूसरे की गति असभव नही तो कठिन अवश्य हो जाती है। परस्पर पूरको की निरपेक्ष मुक्ति उन्हें अधूरा बनाने का दूसरा नाम है।

अनेक सामाजिक परिस्थितियो के कारण नाटक के सृजनात्मक और क्रियात्मक पक्षो मे विच्छेद अनिवार्य हो गया और तब से उनकी निरपेक्ष पर अधूरी स्थिति, निरपेक्षतर और अधिक अधूरी होती गई है। इन्हें एक बिंदु पर मिलाये बिना न सापेक्ष बनाया जा सकता है न पूर्ण, पर इस मिलन-बिंदु पर आने के लिए दोनो ही सीमाओ का मोह छोडना आवश्यक हो जाता है।

जिस प्रदेश म हिंदी रगमच की स्थिति और विकास स्वाभाविक था, उसे देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सघर्ष झेलना पडा और उस सघर्ष की समाप्ति पराजय मे होने के उपरात परिस्थितिया इतनी प्रतिकूल रही कि सांस्कृतिक जीवन मे विषम अवरोध उपस्थित हो गया। कलाओ का क्रियात्मक विकास जीवन के स्वस्थ सामूहिक विकास का मापदड है। विकास की दृष्टि से उनमे जीवन का आत्मसरक्षण ही नही, आत्म-प्रक्षेपण भी रहता है और इस प्रक्षेपण के लिए समाज की ग्रहणशील मनोभूमि के साथ-साथ ग्रहण के अनुकूल भौतिक स्थिति भी आवश्यक रहेगी।

संघर्ष और पराजय के युग में समाज की आत्मरक्षण और गोपन की स्थिति ने यदि हमारी संगीत, नृत्य, अभिनय आदि सभी सामूहिक सांस्कृतिक कलाओं की गति रुद्ध की है तो आश्चर्य की बात नहीं। उनका धर्म या विलास की संकीर्ण सीमाओं में शरण लेना भी स्वाभाविक था। प्रवाहहीन विशाल जलराशि को अंत में सीमित गर्त ही शरण देते हैं।

हिंदी के क्षेत्र में धर्म की सीमा के बाहर ये कलाएं अछूत के समान मन की अस्वच्छता के अवसर पर ही स्मरण और प्रयुक्त की जाती रही हैं, इसी से इनसे स्रष्टाओं को सामाजिक स्वीकृति के अभाव में अप्रतिष्ठित रहकर ही कला-सृजन का मूल्य चुकाना पड़ा है।

क्रमशः ये सब सशोधनात्मक अनुरंजनवती कलाएं, एक ऐसे वर्ग की व्यावसायिक पूंजी बन गईं, जिसे समाज से बहिष्कृत रहकर भी उसके मनोविनोद की सामग्री प्रस्तुत करनी पड़ती थी।

स्वस्थ समाज में व्यक्ति और समष्टि के बीच में जितने प्रकार के आदान-प्रदान संभव हैं, उनमें साहित्य और कला का आदान प्रदान ही श्रेष्ठ है। देने वाला अपने कर्तव्य की समस्त निष्ठा के साथ मस्तक ऊंचा करके देता है और लेने वाला सौहार्द के अखंड विश्वास के साथ मस्तक झुकाकर लेता है। परंतु विषम और अस्वस्थ समाज में लेने वाला, रोगी के खिजलाहट-भरे हठीले भाव से मांगता है और देने वाला अज्ञान परिचारक के समान रोगी को बहलाने की घबराहट के साथ देता है। इस आदान प्रदान से न एक स्वस्थ होता है और न दूसरा आश्वस्त। जीवन के सर्वांगीण निर्माण की योजना ने रंगमंच की अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध कर दी है, परंतु जब तक हमारे प्रयत्न एकांगी रहेंगे, तब तक स्वस्थ रंगमंच का विकास असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

रंगमंच के लिए आवश्यक तीनों पक्षों का सामंजस्यपूर्ण संयोजन ही उसे लक्ष्य तक पहुंचाने में समर्थ है। अतः इनमें से किसी पक्ष से विच्छिन्न होकर चलना हमें किसी अन्य दिशा में पहुंचा सकता है। नाटक, साहित्य का आवश्यक अंग है और इस रूप में उसका सृजन, साहित्य के अन्य अंगों के समान नाटककार की विशेष प्रतिभा, जीवनदर्शन आदि की अपेक्षा रखता है। नाटक समष्टि को सब ओर से स्पर्श करता है, परंतु इसी कारण वह जीवन की गहराइयों से मुक्त नहीं हो सकता। समुद्र सब ओर से पृथ्वी को छूने के कारण गंभीर और रहस्यमय तल से विच्छिन्न नहीं हो जाता।

ऐसी स्थिति में सफल नाटक के लिए जीवन की गहनता और रहस्यमय अंतर्द्वंद्वों से परिचित प्रतिभावान स्रष्टा की स्थिति अनिवार्य रहेगी। कुछ इतिवृत्तों को एकत्र कर लेना मात्र नाटक नहीं बन जायगा। पर नाटककार के लिए जैसे जीवन के गंभीर रहस्य का साक्षात्कार आवश्यक है, उसी प्रकार उसके व्यक्तिगत

साक्षात्कार को समष्टि का साक्षात्कार बनाने वाले रगमच की सीमाओं की जानकारी अनिवार्य है। जीवन के अनेक मूल्यवान सत्य तथा अनत और निगूढ रहस्य, शास्त्र म सुरक्षित और साहित्य मे सप्रेषणीय हैं। परतु ये समष्टि को एक साथ बैठाकर उक्त सत्य या रहस्य का प्रत्यक्ष दर्शन नही कराते, वरन् पात्रता अपात्रता की परीक्षा और प्रतीक्षा के लिए स्वतत्र हैं। नाटक को हर सत्य, हर रहस्य को इस प्रकार वाणी देनी पडती है कि समष्टि उसका आवाहन सुनने के साथ साथ उक्त सत्य या रहस्य को साकार देख सके। इस समष्टि को भूलकर नाटककार अपने सत्य के साथ अकेला रह जाता है और यह अकेलापन नाटककार की सिद्धि नही माना जा सकता।

हर रचना म सैद्धातिक पक्ष के समान ही महत्त्वपूर्ण उसका शिल्पपक्ष या विज्ञान है। अनुभूति, कल्पना और बौद्धिक क्रिया समान होने पर भी रचना-विधान एक नही हो सकता। अनुभूति की तीव्रता सगीत मे जो विधान स्वीकार करती है, वह चित्र म नही और चित्र मे जो शिल्प अगीकार करती है वह मूर्ति मे नही। रचना-विधान की दृष्टि म साहित्य म विशेष विविधता है, अत उसके कविता, कथा, नाटक आदि प्रकारो के मूल म अनुभूति की एकता होने पर भी अभिव्यक्ति के रूपो मे अनेकता रहती है। इसी कारण एक उत्तम कवि के लिए सफल कथाकार और एक सफल कथाकार के लिए सिद्ध नाटककार हो जाना नियम नही, नियम का अपवाद हो सकता है। शिल्प-विधान की दृष्टि से साहित्य के विभिन्न अवयव एक-दूसरे की अनुकृति नही होते, अत जिस रचना-विधान का आश्रय लेकर महाकाव्य सार्थक हो सकता है, उसी का अनुकरण कर उपन्यास सफल नही माना जाता और उसी शिल्प-सीमा मे बधकर नाटक अपने लक्ष्य तक नही पहुच सकता।

रगमच कोई गढा-ढला हुआ साचा नही है, जिसमे नाटक को दबकर विकृत हो जाना पडेगा। वह तो नाटक की निराकार आत्मा को रूप-रगो मे साकारता देने का साधन मात्र है। हर सीमा के समक्ष असीमता की असख्य सभावनाए हैं, अत नाटक के साथ ही रगमच की सकीर्ण और कठिन रेखाए विस्तृत और लचीली हो सकती हैं, उससे विच्छिन्न होकर नही। विश्वात्मा की व्यापक अनुभूति भी तो हमारे सीमित हृदय के साथ बधी हुई है। व्यक्ति अपनी अनुभूति और बौद्धिक विकास से महान और विराट् होने के लिए शरीर की सीमाओ को न खड खड कर सकता है और न उससे पर्वत नदी-वन बाधकर घूम सकता है। पर ठीक ऐसी ही स्थिति तब उत्पन्न हो जाती है जब नाटककार अपने नाटक की महान आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए रगमच को लघु और सीमित समझता है। आत्मा की मुक्त उडान के लिए जब वह रगमच का बधन तोड बैठता है, तब उसे वायवी विस्तार चाहे जितना अधिक मिल जाये, धरती के रगरूपो में स्पदित

प्रत्यक्षता पाना उत्तरोत्तर कठिन होता जाता है। इस प्रवृत्ति से रगमच की भी क्षति हुई है, क्योंकि आत्मा की अशरीरी स्थिति तो कल्पना मे स्थान पा सकती है, पर आत्मा के अभाव मे शरीर की कोई स्थिति सभव नही रहती।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष अभिनेता वर्ग का है जिनमे नाटक की आत्मा अवतरित होती है।

न वे यत्र मात्र हैं और न अर्थ के लिए श्रम बेचने वाले श्रमिक मात्र। नाटक के पात्रो की क्रिया या घटना ही नही, उनके अतर्द्वंद्व, सुख, दु ख आदि को सपूर्ण मार्मिकता के साथ अभिनय द्वारा ही प्रत्यक्ष होना पडता है। परिणामत अभिनेताओ की मानसिक पृष्ठभूमि और चेप्टा, क्रिया आदि मे एक सामजस्य अनिवार्य हो जाता है। अभिनेता की सफलता की कसौटी उसकी आत्मविस्मृति और अपनी भूमिका के आधार से पूर्ण तादात्म्य की शक्ति ही रहेगी। पात्र-विशेष की पृष्ठभूमि, परिस्थिति, सस्कार, सघर्ष आदि से उसे बौद्धिक के साथ-साथ रागात्मक सबध की भावना करनी पडती है। नाट्यशास्त्र, नाट्यकला, नाट्य साहित्य आदि का ज्ञान भी उसके अभिनय की सफलता मे सहायक हो सकता है।

हमारे यहा व्यावसायिक रगमच नगण्य और अव्यावसायिक अनिश्चित हैं। सास्कृतिक या शिक्षा सस्थाए यदा-कदा कैसे आयोजन कर लेती हैं। परतु ऐसे विरल अवसर अभिनय कला को विकास के लिए अवकाश नही दे सकते।

रगमच अपने आपमे एक महत्त्वपूर्ण शिल्प भी है। अन्य देशो मे मच, यवनिका, नेपथ्य, पट-परिवर्तन, आलोक आदि का विज्ञान प्राचीन से आधुनिकतम होते होते बहुत-से क्रम पार कर चुका है। उसके तत्सबधी ज्ञान और शिक्षा के बिना सफल रगमच की कल्पनामात्र है।

रगशालाओ का अभाव भी नाट्य-कला के विकास की एक बडी बाधा है। सिनेमा हॉल न नाट्यकला की आवश्यकता को ध्यान मे रखकर बने हैं और न वे सुलभ ही रह सकते हैं। अव्यवसायी रगमच उनके उपयोग के लिए अधिक अर्थ-व्यय भी नही कर सकता। रगमच की कला के विकास के लिए ऐसी रगशालाए अनिवार्यत आवश्यक हैं, जो केवल अभिनय को ध्यान मे रखकर बनाई गई हो और सब नाट्यमडलियो को नाम मात्र के व्यय पर सुलभ हो सकें। नाट्यशास्त्र तथा रगमच-सबधी साहित्य का निर्माण और प्रकाशन भी रगमच के विकास को स्वस्थ दिशा दे सकेगा।

अब तक हमारे समाज ने अभिनय को सस्ता मनोरजक कौतुक ही माना है, अत रगमच की दिशा मे हुए प्रयोगों का कोई लेखा-जोखा तक उपलब्ध नही है। यदि हम अपने रगमच-सबधी प्रयोगो के इतिहास को एकत्र कर सकें तो उससे हम उक्त प्रयत्न की त्रुटियां और परपरा का बोध हो सकेगा। बिना उन्नत सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुए यह कला समाज के धरातल को सास्कृतिक

परिष्कार देने मे असमर्थ रहेगी, पर इस कार्य के लिए सस्कृत, शिक्षित, प्रतिष्ठित व्यक्तियो को रगमच से सबद्ध होना पडेगा। इस कला का सामाजिक महत्त्व समझकर जब हम उसके विकास का प्रयत्न करेंगे तभी वह अवज्ञा की परिधि के बाहर आ सकेगी।

तीसरा पक्ष दर्शक का है जिसकी रुचि का परिष्करण ही रगमच का लक्ष्य रहता है।

हमारे समाज मे साधारण दर्शक से परिष्कृत रगमच का अपरिचय इतना पुराना हो चुका है कि वह उसी को परिचय मानने लगा है। सवाक् पटो ने भी दर्शक की रुचि को विकृत से विकृततर करने का ही प्रयत्न किया है। ऐसी स्थिति मे केवल उसकी रुचि पर निर्भर रहकर रगमच अपने लक्ष्य तक नही पहुच सकेगा।

हिंदी रंगमंच-२

जीवन से भी कठिन पर अधिक प्रभावशालिनी जीवन की अनुकृति है, यह सत्य जितना रंगमंच पर परीक्षित होता है उतना अन्य किसी क्षेत्र में नहीं।

साहित्य का क्षेत्र साहित्यकार और पाठक दोनों की दृष्टि से इतना व्यापक है कि उसकी कसौटी न समय से सीमित हो सकती है, न जीवन से। उसका स्रष्टा भवभूति के साथ स्वर मिलाकर 'कालोह्यय निरवधि विपुला च पृथ्वी' कह सकता है और अपने समानधर्मा के आगमन की प्रतीक्षा में युगयुगांतर बिता सकता है। परंतु नाटक की तात्कालिक कसौटी रंगमंच है और रंगमंच का अकालक्षम परीक्षक दर्शक-समाज। रंगमंच या तो तत्क्षण परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है या अनुत्तीर्ण, अतः उस प्रथम क्षण की तैयारी ही सारे क्रियाकलाप और सृजन का केंद्र रहती है।

हमारी संस्कृति ने इस कला के जीवनव्यापी प्रभाव का कितना मूल्य आंका, इसे जानने के लिए हम भरत के नाट्यशास्त्र तथा रूपकों के विविध प्रकारों को देख सकते हैं।

अवश्य ही आज हमें उस समय का अभिनय-संबंधी साहित्य कुछ अधिक संकीर्ण बंधनों में बंधा जान पड़ेगा। प्रायः सभी नायक-नायिकाओं को एक ही सी रूप-रेखा में अवतीर्ण होना पड़ता था तथा सभी कथानकों का सुख में ही अंत निश्चित था। आधुनिक दृष्टिकोण से चाहे हम इसे बड़ी भारी त्रुटि मान लें, परंतु तत्कालीन मान्यताओं के अनुसार यह त्रुटि नहीं कही जाएगी।

किसी साधारण समाज की अवस्था बालक की अवस्था से अधिक समानता रखती है, अतः दोनों के ज्ञान प्राप्ति के सामूहिक साधनों में भी कुछ समानता स्वाभाविक कही जायगी। एक स्थिति में बालक अपने बड़े होने का स्वप्न देखना पसंद करता है और ऐसी अवस्था में उसके मन पर समवयस्कों के रोने-हंसने तथा उनके अन्य कार्यों का इतना स्थायी और अनुकरण की प्रेरणा देने वाला प्रभाव नहीं पड़ता, जितना उससे बड़े व्यक्तियों के कार्यों और चेष्टाओं का। परिणामतः

वह उनके प्रत्येक कार्य को विशेष ध्यान से देखकर उसका अनुकरण करने की चेष्टा किया करता है। संभवत रगमच के प्रभाव को स्थायी और संप्रेषणीय बनाने के प्रयत्न मे ही हमारे प्राचीन नाट्यशास्त्र को कुछ ऐसी सीमाओ को स्वीकृति देनी पडी हो, जो आज हममे एकरसता की अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं। साधारण जनता के चित्त पर विशिष्ट व्यक्तियो के त्याग और बलिदान सुख और दुःख, सपत्ति और विपत्ति का जैसा अनुकरणशील प्रभाव पडना स्वाभाविक था, वैसा सामान्य व्यक्तियो के कार्यों तथा उनके सुख-दुःख का नही। समाज मे विरागियो की सख्या कम नही, परतु राजकुमार सिद्धार्थ का विराग ही हमारे अतस्तल मे अकित रह जाता है, अनेक साध्विया कष्ट सहती हुई प्राण देती रहती हैं, परतु मैथिली जैसी सती की अग्नि परीक्षा ही हमारे हृदय मे दीपक की तरह जलती रह सकती है। हम उसी का अनुकरण करना चाहते हैं, जो हमारा अग्रगामी हो।

मानव-समाज की इसी दुर्बलता को देखकर प्राचीन काल के कलाविदो ने विशिष्ट व्यक्तियो के आदर्श चरित्रो को अभिनय के लिए चुना। इन चरित्रो के उत्थान-पतन, अतर्द्वंद्व तथा आपत्तियो मे जनता अधिक प्रभावित होती थी। इसके अतिरिक्त अभिनय का आरभ भी देव-मदिरो मे देव-देवियो के चरित्र-चित्रण द्वारा हुआ था, फलतः साधारण चरित्रो को प्रमुखता मिलना अधिक सामाजिक विकास और विस्तृत दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता था। वैसे उसमे विदूषक तथा अन्य साधारण चरित्रो का समावेश रहता अवश्य था, परतु कथानक का नायकत्व किसी विशिष्ट व्यक्ति को मिलना अनिवार्य था। इस प्रयत्न मे नायक-नायिकाओ में कुछ एकरूपता अवश्य आ गई, परतु इससे समाज की उद्देश्य-सिद्धि और कला के विकास मे बाधा नही पडी।

दुःखात कथानको के विषय मे प्राचीन कलाविदो के विचार हमारे विचारो से भिन्न थे। उनकी दृष्टि मे जो कुछ सुदर, सत्य और कल्याणमय था, उसका नाश सभव ही नही था, उसे अमरता का चिरतन अधिकार भी था। केवल कुत्सित, कुरूप, असत्य और अमगलकर ही मृत्यु का अधिकारी था, परतु कुत्सित असत्य को वे अपने कथानक मे प्रमुख स्थान नही देते थे, अत उसका दुःख या मृत्यु मे अत केंद्रबिंदु नही था। जैसे प्रयत्न से वे अपने अभिनय के लिए आदर्श चरित्र चुनते थे, वैसी ही सतर्कता से वे उस चरित्र को नष्ट होने से बचाते थे। आपत्तियो और बाधाओ मे, आधी तूफानो से लोहा लेना उन्हें अच्छा लगता था, दुःख के अथाह समुद्र को पार कर जाना उनका लक्ष्य था, परतु पराजय और वह भी कुत्सित के द्वारा सुदर की, असत्य के द्वारा सत्य की, मृत्यु के द्वारा जीवन की पराजय उन्हे असह्य थी। इस तर्क के युग मे हमे चाहे यह इच्छा उपहासास्पद जान पडे, परतु जीने के इच्छुक के लिए मृत्युजय मत्र का प्रभाव रखती है। वास्तव

म यदि मनुष्य को सत्य और सौंदर्य की अमरता मे विश्वास न हो तो उनके प्रति उसका आकर्षण भी न रह जाय, इस साधारण सत्य को प्राचीन कलाकारो ने भली भाति समझा था। इसी से वन की हरिणियो के साथ खेलने वाली भोली शकुतला भरी सभा मे राजा पति के द्वारा मिथ्यावादिनी ठहराई जाकर भी आधुनिक युग की निराश रमणी की तरह न आत्महत्या कर सकती है और न प्रतिशोध लेने को पागल हो उठती है। उसका सौंदर्य, उसकी सरलता, उसका विश्वास और उसका अयाचित प्रेम ऐसे शाश्वत गुण हैं जिनका नष्ट होना तो सभव ही नही, साथ ही जिनके बिना दुष्यत का दर्पपूर्ण पुरुषत्व भी पूर्ण नही हो पाता। उसके लिए यदि पृथ्वी पर दुष्यत से मिलन सभव नही तो वह उससे अतरिक्ष मे मिलेगी, परतु मिलेगी अवश्य।

इस दृष्टिकोण से चाहे हम सहमत न हो, परतु इसे कला के लिए बाधक सिद्ध करना कठिन होगा। आज तक शकुतला से अधिक सुदर और सरल चरित्र की सृष्टि हम नही कर सके है और भविष्य मे कर सकने की सभावना भी कम है। शकुतला की मृत्यु या उसके चिर वियोग से नाटक चाहे दुखात होता चाहे नही, परतु सौंदर्य और सत्य म हमारे विश्वास की अवश्य ही दुखमय मृत्यु हो जाती।

वास्तव मे करुण रस का परिपाक अत पर निर्भर भी नही रहता। कितन ही दुखात कथानक ऐसे हैं, जिनके अत हमे प्रसन्न कर देते हैं, खिन्न नही, और कितने ही सुखान्त ऐसे हैं, जिनके अत मे हम जीवन पर मडराती हुई विषाद की छाया देखकर अस्थिर हो उठते हैं। भवभूति के उत्तररामचरित का अत हमे उतना करुणा से आर्द्र नही करता, जितना राम और सीता का अतर्द्वंद्व। अभिनय मे आनद या करुणा की प्रधानता दर्शको के मनोभावो द्वारा आकी जानी चाहिए, कथा के सुखमय या दुखमय अत से नही। अभिनय यदि हमारे सुख-दुख के सघर्ष, जीवन की जटिल समस्याओ और मानव हृदय के आजीवन न मिटने वाले अतर्द्वंद्व की दुरूहता को यथार्थ रूप से चित्रित कर सके तो वह सकरुण है, यदि वह सत्य, शिव और सुदर की अमरता का ज्ञान करा सके तो वह आनदमय है। उस युग की नाट्यशाला का यही मूल मन्त्र था और बहुत समय तक रहा।

वर्तमान काल मे हमे अभिनय कला का जो परिचय मिला, वह व्यवसायी पारसी थियेटर कपनियों के रगमच पर ही मिल सका। यह आश्चर्य का विषय है कि हिंदी नाटकों के आविर्भाव से अब तक हमारा कोई रगमच नहीं रहा। व्यक्तिगत रूप से कभी कुछ व्यक्तियो ने मनोविनोद के लिए किसी नाटक का अभिनय कर भी लिया तो उससे किसी स्थायी रगमच की स्थापना नही हो सकी।

फलत हमारा हिंदी नाटक साहित्य जितनी अध्ययन की वस्तु है, उतनी अभिनय की नहीं। उसमे अभिनय, अभिनेता, दर्शकों का उतना ध्यान नहीं

रखा जाता जितना अध्ययनशील पाठकों का। इसी से हम उनका पाठ्य-पुस्तकों की तरह अध्ययन अभिनय से अधिक सुगम जान पड़ता है। यदि अपना कोई रंग-मंच रहता तो उसकी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए हम इस कला द्वारा अपनी संस्कृति, अपने आदर्श और अपने इतिहास को सर्वसाधारण के हृदयों में जीवित रख सकते थे। जो व्यवसायी थियेटर कंपनियां जनता की दर्शक-रुचि से लाभ उठाने आई उन्हें हमारी संस्कृति का और इस कला के महान् सामाजिक लक्ष्य का न ज्ञान था और न उन्हें इसकी आवश्यकता ही जान पड़ी। जनता कोई भी खेल देखने के लिए मचले हुए बालक के समान व्यग्र हो रही थी। उसे न अभिनय-विषयक कोई ज्ञान था और न उसके सम्मुख रंगमंच की कोई रूप-रेखा थी, जिससे वह इन कंपनियों के अभिनय और मंच की तुलना कर सकती। यदि उसके सम्मुख मंच पर अप्सराएं उड़ने लगतीं, तो भी उसे कौतुकमिश्रित प्रसन्नता होती और कठपुतलियां नाचतीं तो भी। उसने जो देखा उसीकी प्रशंसा की और उसके कौतुकप्रिय स्वभाव से लाभ उठाकर यह व्यवसाय बिना सामाजिक या सांस्कृतिक लक्ष्य के, बिना अभिनय-कला के ज्ञान के दिनोदिन वृद्धि पाने लगा। हमें इन रंगमंचों से अकस्मात् कभी-कभी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री भी मिलती रही, यह अस्वीकार करना सत्य की उपेक्षा करना होगा, परंतु अधिकांश में वहां सस्ती उत्तेजना बढ़ाने वाले गीत, कामुकता को प्रश्रय देने वाले नृत्य और विकृत प्रभाव डालने वाले चरित्रों का ही प्राधान्य रहा। इन रंगमंचों ने वह दिया जिसे रासधारी, राधाकृष्ण के बहाने देने का निष्फल प्रयत्न करते थे और इन्होंने वह छीन लिया जिसे रामलीला वाले, सफलतापूर्वक देते थे। इनके पास साधन थे। चमत्कृत कर देने वाले दृश्य, चकाचौंध कर देनेवाला प्रकाश, कौतूहल उत्पन्न कर देने वाली वेशभूषा और असंयत अभिनेता-अभिनेत्रियों के दल ने विकृति को भी प्रकृति के रूप में दिखाया। परंतु यदि ये व्यवसायी रंगमंच न होते तो अभिनय-कला की ओर हमारा ध्यान न जाता।

उसके उपरांत जो मूक चल-चित्रों का युग आया उसे अभिनय के विकास का विशेष श्रेय मिलना उचित है। उसके निकट रंगमंच का स्थान-संकोच न होकर वाणी का संकोच था। उसे सभी प्रकार के अंतर्द्वंद्व तथा परिवर्तनों को केवल मुख के भाव तथा अंग की चेष्टाओं से ही प्रकट करना पड़ता था, अतः अभिनय कला की ओर विशेष ध्यान देना अनिवार्य हो उठा।

अवाक् चित्र को सफलता तो मिली, परंतु रंगमंच अपनी वाणी के कारण आकर्षक बना रहा। उसकी सजीवता, उसका संगीत और उसकी रंगीनी अनेक व्यक्तियों को अपनी ओर खींचती रही। प्रायः उसकी तुलना में मूक चलचित्र छाया-से जान पड़ते थे, परंतु सवाक् चलचित्रों के आविर्भाव के साथ अभिनय कला का एक अभूतपूर्व नवीन युग आरंभ हुआ। उसके उज्ज्वल भविष्य के विषय

मे किसी को सदेह नही होता, यह कहना तो कठिन है, परतु यदि उसे केवल व्यवसाय का साधन न बनाया जावे, तो अवश्य ही यह हमारी सामाजिक प्रगति मे सहायक रहेगा। इसकी भी कठिनाइया हैं। इसमे स्थान का सकोच है न अभिनेता अभिनेत्रियो के सामने प्रशसा के लिए उत्सुक, सजीव और जागरूक दर्शक-समूह रहता है और न दर्शको के सम्मुख भावतन्मय जीवित, जागृत अभिनेता अभिनेत्री। इस छाया-काया के सम्मेलन को कला का चरमोत्कर्ष ही सजीव बना सकता है। उसकी अनुपस्थिति मे यह जीवित जन-समूह के सामने मुखर चित्रमय जगत् मात्र रह जाता है। अभिनेताओ की कठिनाइया भी कम नही। हमारे सुख-दुख भी दूसरो को प्रभावित करने पर अधिक सत्य जान पडते हैं। तब फिर अभिनीत सुख दु खो को दूसरो के सहयोग की कितनी अपेक्षा रहती होगी, इसकी कल्पना कठिन नही। जहा प्रत्येक भाव भी प्रतिध्वनि बनने के लिए उत्सुक हृदय नही, वहा कुछ निश्चित क्षणो मे किसी विशेष भाव का उसकी चरम सीमा तक पहुचा देना सहज नही हो सकता। इस कार्य के लिए जिस कला की आवश्यकता होती है, वह निरतर साधना और और मानव-स्वभाव के विस्तृत अध्ययन पर जितनी निर्भर है उतनी किसी बाह्य उपकरण पर नही।

सवाक चित्रो से रगमच केवल इसलिए पराजित नही हो सकता कि उसके मार्ग मे कठिनाइया अधिक है, वरन इसलिए कि उसकी कला परिष्कृत रूप तक पहुच ही न सके। वाक्पट रगमच को भुला देने के सभी उपकरण लेकर आया था और जनता ने नवीन और प्राचीन की तुलना मे नवीन को ही अधिक आकर्षक पाया। शक्ति का प्रयोग लाभ के लिए जितनी सुगमता से हो सकता है, हानि के लिए उससे भी अधिक सुगमता से किया जा सकता है। प्राय शक्ति की मात्रा हानि की मात्रा से नापी-तोली जाती है, लाभ की मात्रा से नही। इसी से प्राय सवाक् चित्र, रगमच से अधिक उत्तेजक सामग्री देकर जनता की विकृत रुचि को और विकृत बनाकर अपनी शक्ति का परिचय देने का लोभ न रोक सके।

इसके साथ व्यवसाय का प्रश्न भी था। जनसाधारण को उसकी रुचि के विरुद्ध कुछ देना हठी बालक को बहलाने के समान कठिन है। वह सुदर से सुदर वस्तु को फेंककर उसी को लेना चाहेगा, जिसके लिए उसने हठ ठाना हो। वाक्-पट, रगमच के स्थान-सकोच और मूकपट के वाणी सकोच से रहित और इन दोनों की विशेषताओ से युक्त होने के कारण सामाजिक विकास और जनता की रुचि को परिष्कृत करने मे जितना समर्थ है उसे विकृत करने मे भी उतना ही क्षम है। उसमे कला का विकास भी सभव है और ह्रास भी। केवल व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण वह सर्वसाधारण की रुचि परिष्कृत नही बना सका, यह स्पष्ट है। एक और सुधार मच पर सस्ते उत्तेजनावर्धक नृत्य और प्रदर्शनो के बहिष्कार के प्रस्ताव होते रहते हैं और दूसरी ओर सवाक् चलचित्रो

के रगमच पर अर्धनग्नता से निकृष्ट प्रदर्शन या अभिनदन होता रहता है। एक ओर जनता को प्रगति के पथ पर बढना सिखाया जाता है और दूसरी ओर असस्कृत और निर्लज्ज अभिनयो द्वारा प्रमत्त बनाकर गिरने को प्रेरित किया जाता है। विनोद के लिए रखे गये दृश्य भी मर्यादा व सकोच की सीमा अतिक्रमण कर जाते हैं। अवश्य ही अपने छोटे जीवन मे मवाक् चलचित्रो ने हमे ऐसे अनेक कलापूर्ण चित्र भी भेंट किये हैं, जिनसे हमे अपनी सस्कृति और समाज का यथार्थ ज्ञान हो सका, परतु चित्रो की संख्या देखते हुए ये नगण्य हैं।

अभिनय कला का वास्तविक उपयोग तो समाज की रुचि को अधिक परिष्कृत बनाकर उसे प्रगति के पथ पर आगे बढाना ही है।

यदि आधुनिक युग मे इतने साधनो से पूर्ण होने पर भी हमारी अभिनय कला अपने महान सास्कृतिक और सामाजिक लक्ष्य से शून्य रही तो वह हम एक पग भी आगे न बढा सकेगी। जीवन मे जो कुछ कुत्सित, अस्थिर, अमगलकर और असस्कृत पशुत्व है, उसीमे सुदर, शाश्वत, कल्याणमय और सस्कृत देवत्व को ढूढने के प्रयास मे कला का जन्म और उसकी अभिव्यक्ति मे कला की सिद्धि है। इसी से मनुष्य ने उसके बिना अपने-आपको अपूर्ण अनुभव किया है और सदा करता रहेगा।

अभिनय हमारी केवल प्राचीन ही नही, प्रिय कला भी है। यदि हम जीवन को अधिक परिष्कृत और सुदर बनाने म इसका उपयोग करें तो इससे व्यक्ति और समाज दोनो ही अधिक पूर्ण हो सकेंगे। वैसे विकृत मात्रा म तो ओषधि भी विष हो जाती है।

करुणा का सदेशवाहक[1]

पराजय के क्षणो मे यदि अपना मूल्य बढाने के लिए दूसरे का मूल्य घटा देने की दुर्बलता हममे न उत्पन्न हो गई होती तो बुद्ध और उनके सिद्धातो से अनुप्राणित सस्कृति को, इतने घने कुहरे ने न ढक लिया होता। साधारणत बुद्ध का स्मरण होते ही हमारे सामने नारी जैसा करुण, कोमल, डबडबाए नेत्रो वाला एक निष्फल भावुक स्वप्नदर्शी आ जाता है। कहना व्यर्थ है कि यह चित्र वास्तविक बुद्ध से कोई साम्य नही रखता।

यह सत्य है कि उनके प्रवचन तक बहुत समय के उपरात लिपिबद्ध हो सके, परन्तु बौद्ध साहित्य मे जो कुछ प्रामाणिक सिद्ध हो चुका है वह भी और जिसमे कल्पना का अश अधिक है वह भी, बुद्ध के पर्वत जैसे व्यक्तित्व का ही आभास देता है जिससे टकराकर एक दिन गतिहीन भारतीय सस्कृति शत-शत धाराओ मे फूटकर बह चली थी।

जब हम अपने सामने ऐसे कर्मनिष्ठ तत्त्वान्वेषक को पाते हैं जिसने योग की शाखाओ तथा अन्य विचारधाराओ का अध्ययन किया, पूर्व प्रतिष्ठित अहिंसा-धर्म के अनुसार कठिन तप सहा, कही शाति न पाकर बहुत चिंतन-मनन के उपरात सहज मानव धर्म खोज निकाला, एकात से भीड मे लौटकर प्रचलित रूढियो, परपराओ और विश्वासो के विरुद्ध विजय-यात्रा की और जीवन के सध्याकाल मे एक दिन अस्वस्थ शरीर से पैदल यात्रा करते-करते थककर मार्ग के एक ओर शाल वृक्षों के नीचे लेटकर दूसरी महायात्रा आरभ की, तब हम आखें मल-मलकर सोचते हैं— यह तो हमारी कल्पना की मूर्ति नही, यह तो वह बुद्ध नही।

बुद्ध के व्यक्तित्व मे दो विशेषताए ऐसी हैं जिनका सयोग सहज नही है— कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्त्व। उनके बुद्धिवाद के सामने तो आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवादी भी बडा भावुक जान पडेगा। आज का बुद्धिवादी

1 बुद्ध जयंती पर उद्घाटन भाषण।

अध्यात्म की उपेक्षा करके भी अपने अहम् की पूजा-अर्चा में आस्तिक भक्त बन जाता है।

बुद्ध तो बुद्धि के संबंध में अहंकारशून्य विशुद्ध तार्किक हैं। जो तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता वह उन्हें स्वीकार नहीं। अपनी विशुद्ध बौद्धिकता के बल पर ही वे युगों से बद्धमूल विश्वासों का विरोध करने खड़े हुए और तर्क की सहज स्वाभाविकता के कारण ही हर दिशा में उनकी यात्रा विजय-यात्रा ही सिद्ध हुई, पर उनकी असीम सूक्ष्म बौद्धिकता में मानवीय सौहार्द की प्रतिष्ठापित आश्चर्य का कारण बनती रहती है। प्रायः उग्र बुद्धिवाद मानवीय तत्त्व को ऐसी उपेक्षित स्थिति में पहुंचा देता है कि मनुष्य जीवन का स्पर्श ही भूलने लगता है।

हमारे बुद्धिवाद की सूक्ष्मता में खोये हुए वीतराग दार्शनिक या अविश्वासी पर सुखलिप्सु चार्वाक् ही नहीं, आज के विक्षिप्त तर्कवादी भी यही प्रमाणित करेंगे। इसके विपरीत मानवीय तत्त्व की प्रधानता एक प्रकार की भावुकता को विकास देने में समर्थ है, जो विश्वास ही नहीं अंधविश्वास के लिए भी द्वार खोल सकती है। मानव-कल्याण-भावना पर केंद्रित अनेक विचारधाराओं की अंध-विश्वासों में परिणति इसी सत्य का उदाहरण है।

बुद्ध विशुद्ध बौद्धिक और सहज मानव हैं, इसीसे विद्वानों की परिषदों में उनका जय-शंख बजता रहा और साधारण जीवों में उनकी करुणा की रागिनी गूंजती रही।

संसार के धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में बुद्ध ही ऐसे अकेले हैं जिन्होंने मनुष्य के संबंधों में सामंजस्य लाने के लिए परमात्मा की मध्यस्थता नहीं स्वीकार की, मनुष्यता उत्पन्न करने के लिए किसी पारलौकिक अस्तित्व का सहारा नहीं लिया। जिस निर्मम बौद्धिकता के साथ वे अपने वचनों को भी तर्क की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करने के लिए कहते हैं, उसी के साथ वे जीवन के अंतिम क्षणों अपने संस्थापित धर्म के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं चुनते। उलटे अपने योग्य और प्रिय शिष्य से कह देते हैं—"गुरु नहीं रहा, यह न समझना आनंद! मेरे द्वारा जो धर्म विनय उपदिष्ट हुआ है, प्रज्ञप्त हुआ है, मेरे न रहने पर वही तुम्हारा गुरु है।"

अपने अंतिम आदेश से अधिक उन्हें दूसरों की भ्रांति निवारण की चिंता है—"भिक्षुओ! बौद्ध-धर्म-संघ में एक भिक्षु को भी शंका हो तो पूछ लो।" पर यह बौद्धिकता उनकी सहज करुणा से आर्द्र है। इसीसे जिसके यहां भोजन कर उन्हें प्राणान्तक व्याधि मिली उसके दुःख की चिंता है —"आनंद! चुन्द कर्मारपुत्र के इस शोक को दूर करना, कहना—आवुस! लाभ है तुझे, तूने सुलाभ कमाया जो तथागत तेरे पिंडपात का भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

विशुद्ध तार्किकता और पूर्ण मानवता के अतिरिक्त उनकी दूरदर्शिता और

सगठन शक्ति भी विस्मित कर देने वाली है, क्योंकि एक हमें निपुण नीतिज्ञ और दूसरी अनुभवी सेनानी का स्मरण दिलाती है।

ब्राह्मण-धर्म विद्वत्परिषदों और क्लिष्ट सस्कृत ग्रथो मे सीमित होता जा रहा था। उसके विरोध मे बुद्ध ने जिन अस्त्रो का प्रयोग किया वे उसके लिए अतर्कनीय थे। सस्कृत वाणी का स्थान साधारण जनता की भाषा को और विद्वानों का स्थान, प्रत्येक मनुष्य को देकर उन्होंने सघर्षों से पहले ही जय पा ली।

बौद्ध धर्म के प्रसार का बहुत कुछ श्रेय उनकी सगठन-शक्ति को दिया जाना चाहिए। बौद्ध-सस्कृति के बुद्ध, धर्म, सघ तीन स्तभ हैं, जिनमे पहला बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धातो से सबध रखता है, दूसरा उनके द्वारा निश्चित नैतिक आचरण से और तीसरा सिद्धात और धर्म के प्रसारार्थ सगठन से। सिद्धातों के सबध मे शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण रखकर, आचरण के सबध मे सहज व्यावहारिकता का ध्यान रखकर और सघ के सबध मे सद्भावमूलक नियत्रण रखकर उन्होंने अपने निर्माण को गहराई और ऊचाई दोनो ही दी थी। "हम वीर हैं, दु खशमन के लिए वीर हैं," अगुत्तरनिकाय का यह वाक्य उनके लिए जितना सत्य है उतना और किसी के लिए नही। उनकी विजय मनुष्यता की देवत्व पर विजय है। विडबना यह है कि ऐसे पूर्ण मनुष्य को मनुष्य ने फिर देवताओ मे निर्वासन दे डाला।

भारतीय विचार-परपरा से बुद्ध की विचारधारा कोई साम्य नही रखती, ऐसी भ्रात धारणा का अभाव नही। यह सत्य है कि बुद्ध अपनी दिशा म मौलिक हैं। परतु तत्कालीन वातावरण से उनका सबध नही, ऐसी कल्पना से न बुद्ध की विचारधारा का महत्त्व बढता है, न हमारे चिंतन की विविधता का। सभवतः बौद्ध धर्म के अपनी ही जन्मभूमि से निर्वासित हो जाने पर उसके मूल सिद्धातो के सबध मे हमारे अज्ञान ने ही एक प्रकार के विश्वास का स्थान ले लिया हो। उसके अनेक सिद्धात हमारे जीवन मे नित्य प्रयुक्त होते रहे, उसके कला शिल्प आदि के आदर्श हमारे साथ चलते रहे, पर हमने उस धर्म को अपने से दूर ही माना। अवश्य ही इस धारणा ने हमारी सास्कृतिक चेतना की एक महत्त्वपूर्ण धारा को उसकी मूल धारा से भिन्न स्थिति देकर हमे कुछ दरिद्र ही बनाया। उस विचारधारा के प्रति हमारा समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा अवश्य, पर उस समन्वय के प्रति हम जागरूक नही रहे। इसीसे अतर ज्यो का त्यो बना रहा।

वास्तव मे बुद्ध के समय तक उपनिषदो मे मिलने वाली चिंतन-प्रणालिया बहुत विकसित हो चुकी थी और तत्कालीन विचार स्वातत्र्य के कारण उनकी विविधता उत्तरोत्तर बढती जा रही थी। सभवत बढते हुए आत्मवाद ने मनुष्य को इतना अतर्मुखी बना दिया कि बाह्य जीवन की समस्या का कोई समाधान खोजना अनिवार्य हो उठा। इस चिंतन की विविधता के साथ-साथ जैन

तीर्थंकरो का अहिंसा-धर्म भी विस्तार पा रहा था। बुद्ध ने आत्मवाद को और उलझाने वाला तत्त्व समझकर और जैनधर्म की नकारात्मक आस्तिकता और शरीर-सयम की प्रधानता मे बौद्धिकता का विकास न देखकर वह मार्ग ग्रहण किया जो उनके विचार मे अधिक बौद्धिक और अधिक व्यावहारिक था।

ससार की नित्यता और अनित्यता आदि से सबध रखने वाले प्रश्नो के उत्तर मे या वे मौन ही रहे या किसी सहज रूपक द्वारा समझाते हुए प्रश्नकर्ता को उसके प्रश्न की व्यर्थता तक पहुचा आये। उनके निकट चार आर्य सत्य हैं—दु ख, दु ख-समुदय (कारण), दु ख-निरोध और दु ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा। यह दु ख न किसी आध्यात्मिक जगत् का दु ख है और न सूक्ष्म दार्शनिक जगत् के असतोष का पर्याय है, प्रत्युत प्रत्यक्ष जीवन का दु ख है।

"क्या है आवुसो दु ख? जन्म भी दु ख है, जरा भी दु ख है, व्याधि भी दु ख है, मृत्यु भी दु ख है, शोकक्रदन भी दु ख है, मनस्ताप भी दु ख है, चिंता भी दु ख है, किसी चीज की इच्छा करके न पाना भी दु ख है। क्या है आवुसो-दु खनिरोध? जो उस तृष्णा का त्याग, विराम, निरोध, मुक्ति अनालय है वह कहा जाता है दु खनिरोध। क्या है आवुसो दु ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा? यह अष्टागिक मार्ग है, सम्यक् दृष्टि, सम्यक सकल्प, वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक समाधि।' (सम्मादिट्ठि सुत्तन्त)

उपर्युक्त दु ख के सभी रूप भौतिक जीवन से सबध रखते हैं और उनमे दूर होने का उपाय आचरण का परिष्कार और चित्त की शुद्धि है।

बुद्ध होने का प्रयत्न करने वाला बोधिसत्त्व है और बोधिसत्त्व के लिए दो गुण आवश्यक होते हैं—महामैत्री और महाकरुणा। महामैत्री उसे अन्य प्राणियो के लाभ के लिए अपना सर्वस्व त्यागने की शक्ति देती है और महाकरुणा के कारण वह सबको दु ख से विमुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

बुद्ध का निर्वाण भी जीवन के उपरात कोई स्थिति न होकर जीवन की ही ऐसी स्थिति है जिसमे तृष्णा के क्षय से दु ख का क्षय हो गया है। पर यह दु ख का क्षय केवल अपने लिए नही है, इसी से बोधिचर्यावतार मे मिलता है—"सर्वस्व-त्याग मे निर्वाण है, मेरा चित्त उस स्थिति के लिए प्रस्तुत है, अत. सब कुछ समर्पण कर देना उचित है। इसे सबको दे देना उचित है।"

मनुष्य के कल्याण-अकल्याण की भावना भी व्यावहारिक है।

"क्या है आवुसो अकुशल? हिंसा अकुशल है, चोरी अकुशल है, दुराचार अकुशल है, असत्य बोलना अकुशल है, चुगली अकुशल है, कठोर वचन अकुशल है, बकवाद अकुशल है, लालच अकुशल है, प्रतिहिंसा अकुशल है, झूठी धारणा अकुशल है।" (मज्झिम निकाय)

इन कार्यों को न करने से मनुष्य को कुशल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार

बुद्ध का मनुष्य समष्टि का मनुष्य है और सब की दु ख-मुक्ति मे अपनी दु ख-मुक्ति है। इसी से वे दीर्घ निकाय मे कहते हैं—"जैसे समुद्र का जल जहा उठाओ वही लवण-रस है, वैसे ही मेरा धर्म-विनय सब जगह मुक्ति रस है।"

बुद्ध की विचारधारा मे एक निराश दु खवाद है—ऐसा आक्षेप भी सुना जाता है।

इस सबध मे यह स्मरण रखना उचित है कि प्रत्येक कल्याण-प्रतिपादक की स्थिति दोहरी होती है। वह अकल्याण की स्थिति को मानता है, अन्यथा कल्याण की चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी। इस तरह अकल्याणमूलक दु ख पर केंद्रित रहने के कारण उसकी दृष्टि दु खवादिनी रहे, यह स्वाभाविक है। पर यह स्थिति कल्याण मे बदल सकती है—इसमे उसका अटूट विश्वास रहता है, अन्यथा उसके प्रयत्न मे कोई सार्थकता ही नही रहेगी। इस तरह कल्याण पर आश्रित उसका दृष्टिकोण आशावादी ही रहेगा।

समय-समय पर कल्याण की परिभाषा बदलती रही है और उसी के विपरीत तत्त्व दु ख समझे जाते रहे। जब भौतिक समृद्धि ही कल्याण का पर्याय थी, तब उसे अप्राप्य बताने वाली बाधाए ही दु ख थी। जब परमतत्त्व मे आत्मतत्त्व का लीन हो जाना कल्याण माना गया, तब भौतिक जगत् दु ख का कारण बन गया। बुद्ध का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है। धन, काम आदि की तृष्णा से ही मनुष्य स्वयं दुखी होता और दूसरो के दु ख को बढ़ाता है, अत ऐसी तृष्णा का क्षय ही कल्याण है। यह कल्याण चित्त और आचरण की शुद्धता से प्राप्त हो सकता है। उनकी कल्याण की भावना समष्टिगत है, अत. दु ख की व्यापकता के कोने-कोने का स्पर्श कर उनकी दृष्टि का विषाद भी विशालता पा गया है।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित, इच्छा के एकात त्याग पर तत्कालीन धर्म, समाज, जीवन आदि की व्यवस्थाओ का कोई प्रभाव नही पडा—यह विश्वास करना कठिन है, क्योंकि हमारे यहा एकात स्वार्थ को पराजित करने के लिए ही एकांत त्याग का ब्रह्मास्त्र प्रयोग में आता रहता है। उदाहरण के लिए हम गीता के निष्काम कर्म को ले सकते हैं।

जहां तक विचारधारा का प्रश्न है, वह तत्कालीन उपनिषदों मे मिलने वाली विचारधारा से इतना साम्य रखती है कि उसे उसी चिंतन प्रणाली का एक रूप मानना उचित होगा। उपनिषदों में किसी विशेष मत या धर्म का प्रतिपादन नह किया गया है। वे तो विविध विचारकों के चिंतन की समष्टि मात्र उपस्थित कर हैं। तत्कालीन आत्मवाद में भारतीय बुद्धिवाद अपनी चरमसीमा तक पहुच चुक था। वह आत्मा जो अहकार, मनस और विज्ञान की समष्टि है, आत्मवाद क शुद्ध आत्मन् नहीं और जिस आत्मा को बुद्ध अस्वीकृत करते हैं, वह अहका मनस और विज्ञान की समष्टि है। इस प्रकार एक ही धरातल पर स्वीकृति

अस्वीकृति का प्रश्न नही उठता। निर्वाण-प्राप्ति के उपरात की शून्यता और आत्मन् की शून्य व्यापकता विवाद का विषय रहेंगे।

अनेक प्रश्नो के सबध मे व्यावहारिक धरातल पर बुद्ध मौन हैं और अनेक प्रश्नो के सबध मे बौद्धिक धरातल पर उपनिषदो के मनीषी 'नही जानते, नही जानते' पुकार उठते हैं। इन प्रश्नो को छोडकर बुद्ध की विचारधारा मे बहुत कुछ वही है जो तत्कालीन विचारो मे भी मिलता है। अवश्य ही सबकी परिभाषाए भिन्न-भिन्न हैं।

बुद्ध के प्रवचनो मे बार-बार आने वाली अविद्या उपनिषदो मे भी बार-बार उपस्थित हो जाती है। 'अधतम प्रविशति ये अविद्यामुपासते' जैसे वाक्यो मे हम इस अज्ञान ही का सकेत पाते रहते हैं। बुद्ध जिस तृष्णा को दुख का कारण मानते हैं वह भी काम के रूप मे उपनिषद् तथा वेद मे अपना परिचय देती रहती है—"स कामाय जायते, कामाजज्ञे प्रथम ।"

जहा तक शरीर के आयास के विरोध मे चित्तशुद्धि का प्रश्न है, उसे याज्ञवल्क्य विदेह आदि की स्वीकृति मिल चुकी थी। नैतिक आचरण के सबध मे ब्रह्मचर्य, शम, चित्त का सयमन, यम, इद्रियो का निग्रह आदि की भावना भी पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अत बुद्ध ने उसे अपनी विचारधारा के अनुरूप बनाकर जो सगठित रूप दिया, वह नवीन होने पर भी भारतीय जीवन के लिए परिचित कहा जायेगा।